

UNIVERSAL
LIBRARY

OU_180259

UNIVERSAL
LIBRARY

OSMANIA UNIVERSITY LIBRARY

Call No. H84/S135 Accession No. G.H. 2456

Author सहस्र, कन्हैयालाल ।

Title सतीताञ्जलि । 1943

This book should be returned on or before the date
last marked below.

समीक्षाञ्जलि

(प्रथम भाग)

प्रो० कन्हैयालाल सहल एम० ए०
बिड़ला कालेज, पिलानी

भूमिका-लेखक
बा० गुलाबराय एम० ए०

मिलने का पता

१. साहित्यरत्न भण्डार, आगरा
२. कन्हैयालाल सहल, बिड़ला कालेज, पिलानी (जयपुर)

विषय-सूची

पृष्ठ

१. निवेदन	
२. दो शब्द	
३. कला का त्रिकोण	१
४. काव्य में विराट्-भावना	७
५. संबेदना का हेत्वाभास	१६
६. काव्य की आत्मा	२५
७. सूरदास और शुद्धाद्वैत	२६
८. शैली और व्यक्तित्व	३५
९. कुन्तक और काव्य	३६
१०. गुञ्जन-गरिमा—	
१ पृष्ठ-भूमि	४६
२ विचारधारा (मुक्ति बनाम बन्धन)	५३
३ साधना का महत्व	६०
४ मर्यादावाद	६१
५ 'गुंजन'— एक जीवन-काव्य	६२
६ आकांक्षा की धारा	६५
७ प्रकृति-वर्णन	६७
८ उन्मन गुंजन क्यों ?	७५
९ रहस्यवादी भावना	८२
१० 'गुंजन' और छायावाद	८३
११. बापू-विमर्श	१०३

निवेदन

‘समीक्षाञ्जलि’ वस्तुतः मेरे कतिपय लेखों का संकलन मात्र है जिनमें से अधिकांश पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित हो चुके हैं। कुछ सहृदय पाठकों के आग्रह से इनको पुस्तकाकार में प्रकाशित किया जा रहा है।

इन निबन्धों के लिखने में सुहृद्वर पं० पतरामजी गौड़ ‘विशद’ एम० ए० साहित्यरत्न के परामर्श का मैंने पूरा लाभ उठाया है किन्तु उनको धन्यवाद देना तो अपने को ही धन्यवाद देना हो जायगा। जिन लेखकों की कृतियों से मुझे पुस्तक लिखने में सहायता मिली है उन सब का मैं कृतज्ञ हूँ। ‘साहित्य सन्देश’ के ख्यातनामा संपादक तथा सुप्रसिद्ध साहित्यसेवी बा० गुलाबराय जी एम० ए० ने इस पुस्तक की भूमिका लिखने की महती कृपा की है जिसके लिए अपनी कृतज्ञता प्रकट करना मैं अपना परम कर्तव्य समझता हूँ।

‘समीक्षाञ्जलि’ का द्वितीय भाग भी जिसमें समीक्षा-तत्त्वों का विवेचन है पाठकों की सेवा में शीघ्र ही प्रस्तुत किया जा सकेगा।

बिड़ला कालेज, पिलानी। }
जून १९४३

कन्हैयालाल सहल

दो शब्द

नामकरण के पूर्व ही मुझे इस नवजात शिशु के दर्शन कराये गये हैं। इसका जन्म उस पुण्य-भूमि में हुआ है जहाँ कि साहित्य और दर्शन का मङ्गलमय संगम होता है। प्रस्तुत संग्रह के निबन्धों में कुछ तो सीधे साहित्य-शास्त्र के सिद्धान्तों से सम्बन्ध रखते हैं और कुछ में विशिष्ट पुस्तकों की आलोचना है। इनमें प्रमुख हैं पंतजी का 'गुञ्जन' और सियारामशरण जी का 'बापू'। यह आलोचनाएँ कला की अपेक्षा जीवन की मीमांसा से अधिक सम्बन्ध रखती हैं। लेखक के मत से गुञ्जन में छायावाद की प्रतीक-प्रधान कला अवश्य है क्योंकि स्वयं गुञ्जन शब्द ही प्राणों की उन्मन गुञ्जन का प्रतीक है किन्तु इसमें पलायनवादी मनोवृत्ति नहीं है। इसमें जग-जीवन के प्रति अनुराग का सूत्रपात तो अवश्य ही हो जाता है। अब प्रश्न यह है कि यह अनुराग बौद्धिक है अथवा हार्दिक, इस सम्बन्ध में यही कहना पड़ेगा कि यद्यपि हृदय के पारस-स्पर्श बिना सिद्धान्त का लोहा कविता के स्वर्ण में परिणत नहीं होता तथापि इनकी मूल प्रेरणा बौद्धिक ही है। गुञ्जन की जीवन-मीमांसा में दो बातें मुख्य हैं— बन्धन में मुक्ति और सुख-दुख का सम-विभाजन। बन्धन में मुक्ति मानना पलायनवाद की विपरीत मनोवृत्ति— जीवन-संघर्ष में प्रवेश का मूल मंत्र है। यद्यपि बन्धन में मुक्ति का आधार रवि बाबू की 'वैराग्य साधने ये मुक्ति से आमार नय' वाली कविता में है किन्तु सहलजी ने यह बतलाया है कि यह प्रवृत्ति बिलकुल नई नहीं है। प्राचीन साहित्य में 'नाहं कामये राज्यं न स्वर्गं नापुनर्भवं, कामये दुःखतप्तानां प्राणिनामार्तिनाशनम्'

श्रीकृष्ण भगवान की यह कामना इस भावना का अच्छा उदाहरण है। वास्तव में यह भावना युग की वाणी है। इसी में देश के कल्याण की आशा है। सुख-दुख के सम विभाजन में ही सहलजी ने पन्तजी के साम्यवाद का पूर्वरूप देखा है। लेख यद्यपि विविध विषयक हैं तथापि उनमें विचार की एक अन्विति है।

प्रस्तुत संग्रह के निबन्धों में यद्यपि पूर्व और पश्चिम के सिद्धान्तों का समावेश किया गया है तथापि उनमें प्रमुखता भारतीय सिद्धान्तों को ही दी गई है। फिर भी लेखक का दृष्टिकोण उदार और व्यापक है और उसी के अनुकूल शैली भी प्रसादमयी है। मुझे पूर्ण आशा है कि यह पुस्तक हमारे विद्यार्थियों को मननशील बनाने में सहायक होकर हिन्दी के निबन्ध साहित्य में अपना उचित स्थान पायगी।

गोमती-निवास
दिल्ली दरवाजा }
आगरा

गुलाबराय

समीक्षाञ्जलि

(प्रथम भाग)

कला का त्रिकोण*

आनन्द प्राप्त करने की इच्छा मनुष्य की सहजात प्रवृत्ति है। फ्रायड ने आनन्द के बन्धों (pleasure zones) की विवेचना करके इस प्रवृत्ति का बड़ा अच्छा विश्लेषण किया है। किन्तु मनुष्य की सब आकांक्षाएँ पूर्ण नहीं हो पाती; उसकी बहुत सी इच्छाएँ अतृप्त रह जाती हैं। उन अतृप्त इच्छाओं की पूर्ति वह कल्पना के रंगीन स्वप्नों द्वारा करता रहता है। नींद के समय जब चेतन मस्तिष्क निष्क्रियावस्था में रहता है, हमारी दबी हुई इच्छाएँ स्वप्न के द्वारा अपना काल्पनिक संतोष कर लेती हैं। इस प्रकार की स्वप्न-सृष्टि करने वालों में कलाकार सबसे प्रमुख है। जीवन में जो साध अतृप्त रह जाती है, वह बहुधा कवि के गीतों में फूट निकलती है। नाटककार अपनी अतृप्त इच्छाओं की पूर्ति के लिए ऐसे चरित्रों का निर्माण कर डालते हैं जिनसे उनकी किसी न किसी रूप में मनस्तुष्टि होती रहती है। 'स्कन्दगुप्त' पढ़ाते समय कई बार मुझे लगा है कि देवसेना और स्कन्दगुप्त के अमर चरित्रों की सृष्टि कर प्रसाद ने उन पात्रों के बहाने अपने आप को ही व्यक्त किया है। जिन्होंने रोम्यां रोलां के सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थ 'ज्यां क्रिस्तोफ' का अध्ययन किया है, वे भली भाँति जानते हैं कि ज्यां क्रिस्तोफ के जीवन का अविराम द्वन्द्व उसके रचयिता के जीवन का ही द्वन्द्व है। शेक्सपियर का हैमलेट जब To be or not to be की

*Indian Review में प्रकाशित लेखक के Triangle of Art का हिन्दी अनुवाद।

मीमांसा करने लगता है, तो क्या हमारे सम्मुख कवि के हृदय में चलते हुए अंतर्द्रव्य का मार्मिक चित्र उपस्थित नहीं हो जाता ? प्रसादजी ने कहा था— ‘कामायनी’ लिख कर मुझे सन्तोष है। रचना स्वयं ही आनन्ददायिनी होती है, फिर लेखक की स्वानुभूति का संस्पर्श उसे और भी मर्मस्पर्शी बना देता है। ‘कामायनी’ में देवताओं के विलासपूर्ण जीवन का चित्रण करते समय प्रसादजी के सामने अपने धनी कुल के प्राक्कालिक वैभव और ऐश्वर्य की स्मृति भी अवश्य रही होगी। उस ऐश्वर्य का किसी न किसी व्याज द्वारा वर्णन करके भी रचयिता अपनी दुःखद स्मृति के भार को बहुत कुछ हलका कर लेता है। फिर, सब से बड़ी बात तो यह है कि मानव-जीवन की निगूढ़ पहेली जो प्रसाद के मस्तिष्क में चक्कर लगाया करती थी, वह ‘कामायनी’ में कलाकार द्वारा प्रस्तुत किए हुए समाधान के रूप में बहुत कुछ स्पष्ट हो गई है। इस प्रकार की सुखानुभूति किसी भी कलाकार के लिए स्वाभाविक ही है।

बहुत से मनुष्य जहाँ सन्तानोत्पत्ति के रूप में अपनी प्रतिमूर्ति छोड़ कर संतोष की साँस लेते हैं, वहाँ कलाकार देवसेना, हैमलेट अथवा अन्ना कैरेनिना जैसे अमर चरित्रों की सृष्टि कर अपनी आत्मा को तसल्ली देते हैं। यदि किसी कलाकार के पास अपने प्रेम-पात्र की मृत्यु हो जाने पर शाहजहाँ की भाँति ताजमहल बनवाने के उपकरण नहीं होते तो वह ताजमहल से भी चिरस्थायी मनोरम काव्य-रचना द्वारा अपने प्रेम-पात्र की याद में आँसू बहा कर भावुक हृदयों को हमेशा के लिए रुलाता रहता है। अंग्रेजी कवि टेनीसन का In Memoriam किस यादगार से कम है ? कहते हैं, गुप्त जी के बच्चों पर जब कराल काल का प्रकोप हुआ तो

उन्होंने 'द्वापर' के रूप में अमर माई के लाल की सृष्टि की। देखिए, किस प्रकार विश्वास के स्वर में अपनी प्रेयसी को सान्त्वना देते हुए कवि बोल उठा है—

कर्म-विपाक-कंस की मारी
 दीन देवकी-सी चिरकाल,
 लो, अबोध अन्तःपुरि मेरी !
 अमर यही माई का लाल ।

“ये प्रासाद रहें न रहें पर अमर तुम्हारा यह साकेत”
 में भी कवि ने कौशल द्वारा अपनी कृति की ओर संकेत किया है।

कहने का तात्पर्य यह है कि कलाकार अपने जीवन की अतृप्त आकांक्षाओं की शून्यता को कलाकृतियों द्वारा भर कर आनन्द का उपभोग करता है और जितना आनन्द उसको अपनी मौलिक काल्पनिक सृष्टि द्वारा प्राप्त होता है, उतना शायद वास्तविक जीवन की इच्छा-पूर्ति से भी नहीं। कवि और उसके काव्य में पिता-पुत्र का-सा सम्बन्ध रहता है।

किन्तु कला की उत्पत्ति का एकमात्र कारण यह ही नहीं है। विश्व-सृष्टि का अग्रदूत, अमरता का दिव्य पुत्र यह मानव, साहित्य में अमर बने रहने की इच्छा से भी कला-सृष्टि में प्रवृत्त होता है। अमर होने की यह सहजात अभिलाषा उसकी अनेकानेक साहित्य-प्रेरणाओं की जन्म-दात्री है। कवीन्द्र रवीन्द्र के अनुसार “हमारे मानसिक भावों की यह एक स्वाभाविक प्रवृत्ति है कि वे अनेक हृदयों में अपने को अनुभव कराना चाहते हैं। साहित्य में चिरस्थायी होने की चेष्टा ही मनुष्य की प्रिय चेष्टा है। प्रसार और संग्रह मनुष्य के जन्म-जात सदगुण हैं। अपने हृदय की बात को

अभिव्यञ्जना के सहारे वह संसार की बात बना देना चाहता है, और सहानुभूति के सहारे संसृति के सुख-दुःख का वह संग्रह करता है। यही प्रसार और संग्रह सब प्रकार की कला-सृष्टि के उद्गम हैं। मानव-हृदय और बाह्य-संसार दोनों में एक दूसरे का परिचय प्राप्त करने की विह्वल आकुलता दृष्टिगोचर होती है।” भौतिक आवश्यकताओं की अवहेलना करके भी वह काव्य-सदृश कलाओं की रचना में प्रवृत्त होता है क्योंकि वह जानता है :—

Princes and Captains leave a little dust,
And Kings a dubious legend of their reign
The swords of Cæsars, they are less than rust
The Poet doth remain.

“कुछ रजकण ही छोड़ यहाँ से
चल देते नरपति-सेनानी
सम्राटों के शासन की बस
रह जाती संदिग्ध कहानी
गल जाती हैं विश्वविजेता-
चक्रवर्तियों की तलवारें,
युग-युग तक, पर, इस जग में है
अजर-अमर कवि (कवि की वाणी) ॥”

एक मौलिक विचार की सृष्टि के लिए कलाकार आकाश-पाताल एक कर डालता है। एक फ्रेंच कलाकार के लिए कहा जाता है कि एक दिन वह बाग में घूम रहा था। उसके मन में एक ऐसा सुन्दर भाव उत्पन्न हुआ जो शायद ही कभी जीवन-भर में उत्पन्न हुआ हो। उसने उसे अपने मन में अंकित कर लिया और अन्य विषयों पर विचार-मग्न हो गया किन्तु जब

वह घर लौटा तो उसे मालूम हुआ कि विचारों के प्रवाह में वह भाव न जाने कहाँ बह गया ! दो दिन तक उसने उसे याद करने का बहुतेरा प्रयत्न किया किन्तु सब निष्फल ! अन्त में यह सोच कर कि ऐसा सुन्दर भाव यदि मैं दुनिया के सामने न रख सका तो मेरा जीवन ही व्यर्थ है, उसने आत्म-हत्या करली !!

किन्तु एक बात का उल्लेख किये बिना यह कला का त्रिकोण पूरा न होगा । अमेरिका के सुप्रसिद्ध वैज्ञानिक एडलर अपने को तुच्छ समझने की वृत्ति (Inferiority Complex) के जन्मदाता हैं । इस सिद्धान्त के अनुसार मनुष्य के सम्पूर्ण कार्य-व्यापार का आधार उसकी हीनता या लुप्तता के अनुभव में है । वह अपने अहं को अजुएण रखने के प्रयत्न में बचपन से ही लग जाता है । वह अनेक उपायों द्वारा अपने अस्तित्व को महत्त्वपूर्ण और दर्शनीय बनाने की चेष्टा में लगा रहता है । वह समाज में अपने व्यक्तित्व को एक महत्त्वपूर्ण व्यक्तित्व के रूप में देखना चाहता है । मनुष्य जब यह अनुभव करता है कि समाज में उसकी अनुपयोगिता के कारण उसका कोई उल्लेखनीय अस्तित्व ही नहीं है, तब वह अपने अस्तित्व को प्रमाणित करने के लिए कला की सृष्टि करने में प्रवृत्त होता है । इसीलिए अज्ञेय जी ने कला को “सामाजिक अनुपयोगिता की अनुभूति के विरुद्ध अपने को प्रमाणित करने का प्रयत्न—अपर्याप्तता के विरुद्ध विद्रोह” कहा है ।

ऐसे उदाहरण भी देखने-सुनने में आते हैं कि जब एक कलाकार अपने समसामयिक कलाकार से पिछड़ने लगता है तो वह अपर्याप्तता, तुच्छता अथवा हीनता की भावना से प्रेरित होकर भी कभी-कभी किसी विशेष कला-कृति के सृजन के लिए प्रयत्नोन्मुख होता है ।

अपनी अतृप्त इच्छाओं को पूर्ण कर आनन्द प्राप्त करने, साहित्य में चिरस्थायी होने तथा तुच्छता की भावना के विरुद्ध विद्रोह करने के मूल में कलात्मक उद्भावनाओं की प्रेरणा पाई जाती है। इस प्रकार की प्रेरणा का आधुनिक मनोविज्ञान भी समर्थन करता है और यही कला का त्रिकोण कहा जा सकता है।

काव्य में विराट्-भावना

जगत्प्रसिद्ध महान् आलोचक लांजीनस ने जिसे भव्यता अथवा विराट्-भावना की संज्ञा दी है, वह श्रेष्ठ काव्य का एक सर्वोच्च गुण है। अंग्रेज़ी के महाकवि मिल्टन विचारों की भव्यता के लिए प्रख्यात हैं, वर्ड्सवर्थ में भी भव्यता की कमी नहीं है। किन्तु भव्यता को शब्द-बद्ध कर इसका विशद विवेचन करना कोई सरल काम नहीं है। अंग्रेज़ी साहित्य में विराट् और सौन्दर्य की भावनाओं का एक अच्छा साहित्य है। संस्कृत और हिन्दी में विराट्-भावना-सम्बन्धी साहित्य तो अवश्य है किन्तु इसका विश्लेषण कम हुआ है। बाबू गुलाबराय जी ने अपने 'नवरस' में नवरसेतर रस के अधिकरण में इसका थोड़ा-सा उल्लेख किया है। इसमें उन्होंने सौन्दर्य, भयानक और अद्भुत का मिश्रण बतलाया है।

हित और मनोहारी के सम्मिलन में प्राचीन काल से काव्य की सार्थकता समझी गई है। युक्तियों द्वारा पाठकों या श्रोताओं को अपने मनोनुकूल कर लेने में गद्य-लेखक और वक्ता चिरकाल से प्रयत्नशील रहते आये हैं। विश्व के अन्तःस्फूर्ति-सम्पन्न कवियों, सुप्रसिद्ध ऐतिहासिकों, वक्ताओं और दार्शनिकों के साहित्य को उपदेश, आनन्द और स्वानुकूलन—इन तीन शब्दों के त्रिकोण द्वारा समझने-समझाने की चेष्टा होती रही है। पद्य का उद्देश्य रहा है उपदेश और आनन्द; गद्य का उद्देश्य स्वानुकूलन (Persuasion)। किन्तु लांजीनस को इन तीन शब्दों के कठघरे से संतोष न हुआ। उसके

मतानुसार भव्यता द्वारा ही चित्त उल्लसित होता है। भाषा और भाव की एक प्रकार की सम्पूर्णता से भव्यता की उत्पत्ति होती है और काव्य की इसी शक्ति के कारण विश्व के महाकवियों ने स्थायी ख्याति प्राप्त की है। प्रतिभाशाली लेखक में चित्त को आह्लादित करने की शक्ति पाई जाती है। काव्य की बाह्य साज-सज्जा में चित्त को चमत्कृत कर अपूर्व आनन्द प्रदान करने की क्षमता नहीं पाई जाती, किन्तु भव्यता चपला की चमक की तरह लेखक की शक्ति को आलोकित कर देती है। Joubert ने कहा है कि वह कविता ही क्या जो पाठक को तन्मय कर आत्म-विस्मृत न कर दे ? डी क्वेंसी ने भी ज्ञान का साहित्य और शक्ति का साहित्य — इस प्रकार साहित्य का द्विविध वर्गीकरण किया है। शक्तिसम्पन्न साहित्य अत्यन्त मर्मस्पर्शी होता है। शक्ति के अभाव में केवल कृत्रिम साधनों की आधार-शिला पर भव्य प्रासाद नहीं खड़ा किया जा सकता। भव्यता-जनित आनन्द चित्त पर तात्कालिक प्रभाव डालता है।

यद्यपि लांजीनस सर्वप्रथम महान् आलोचक था जिसने अंतःस्फूर्ति पर जोर दिया किन्तु वह यह कहने में भी नहीं चूका कि सौन्दर्य की साधना अत्यन्त दुष्कर है। नभोमण्डल से वायु की भाँति काव्य-नौका के पालों को भरने के लिए सुगमता से सौन्दर्य-समीर नहीं मिल सकता; काव्य-नौका का समुद्र-संतरण हँसी-खेल नहीं। उसने इस बात पर भी जोर दिया कि कवि को दक्षता प्राप्त करने के लिए काव्य के विधि-विधान पर अधिकार प्राप्त करना होगा। प्रतिभाशाली कवियों के काव्यों में भी यदि प्रमाद-वश दोष आ गये हों तो उनकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। उसने काव्यालङ्कारों पर भी अपने विचार प्रकट किये हैं तथा भावी लेखकों को

शब्दों के घटाटोप से बचने एवं कृत्रिमता से दूर रहने के लिए सचेत भी किया है।

बेन जानसन ने शब्द और अर्थ में शरीर और आत्मा का सम्बन्ध बतलाया है; डी क्वेसी ने भाषा को आत्मा का अवतार कहा है, उसी प्रकार लांजीनस ने भी भाषा और भाव को परस्पर संपृक्त माना है। किसी काव्य की शैली और रूप-रेखा की विवेचना करके केवल काव्य-शरीर का ही विश्लेषण किया जा सकता है; जब तक विचारों और भावों की समीक्षा न होगी, हम काव्य की आत्मा को नहीं छू सकेंगे। भव्यता के अनेक साधनों में से लांजीनस ने उदात्त विचार और तीव्र भावावेग (Passion) को प्रधानता दी है।

वही गद्यांश या पद्यांश महत् हो सकता है जिस पर सबसे अधिक हमारा ध्यान केन्द्रित हो, जो हमारी स्मृति में बरबस इतना चिरस्थायी हो जाय कि हम उसे भुलाये भी न भूल सकें। सामान्यतः वे कलाकृतियाँ, जिनमें सब को सब समय तक आह्लादित करने की शक्ति पाई जाती है, भव्यता के सत्य एवं सौन्दर्य से समन्वित होती हैं। मैथ्यू आर्नल्ड ने जिस प्रकार सचाई और परमार्थता पर जोर दिया है, उसी प्रकार लांजीनस ने उदात्त विचार और भावावेग की तीव्रता को प्रमुख ठहराया है। जो महत् और दिव्य है, उस ओर हम स्वभावतः ही श्रद्धावन्त होकर उसकी स्तुति करने लगते हैं। हम जब विचारों की उड़ान भरते हैं तब इस सृष्टि की परिधि को पार कर उसके आगे भी सोचने का उपक्रम करते हैं। तब छोटे छोटे नदी-नाले हमें आकर्षित नहीं करते, उस समय हम विशाल महासागर और तारकित नभोमण्डल की विराट् शक्ति से ही आश्चर्यान्वित हो अभिभूत होते हैं।

भिन्न भिन्न आलोचकों ने भव्यता की भिन्न भिन्न ढंग से व्याख्या की है। इस शब्द के स्मरण-मात्र से हमारे हृदय में भय, आश्चर्य, आदर तथा एक प्रकार के रहस्यमय अनिर्वचनीय आनन्द आदि मनोविकारों की भाव-शबलता एक साथ उत्पन्न हुए बिना नहीं रहती। विस्तृत नक्षत्र-मंडित गगन, असीम समुद्र, प्रलयकारी जल-प्लावन, भयंकर नीरव शून्यता, प्रबल भूकम्प, आकस्मिक भूभावात, साँय-साँय करता हुआ एकान्त निर्जन अरण्य तथा अनादि और अनंत काल भव्यता के उदाहरणस्वरूप प्रस्तुत किये जा सकते हैं। किन्तु किसी वस्तु के केवल विशालकाय होने के कारण ही भव्यता की उत्पत्ति नहीं हो सकती; आकार की दानवता के साथ साथ शक्ति का होना अत्यावश्यक है। हाँ, यह अवश्य है कि कभी-कभी किसी पदार्थ का विशालकाय होना ही उसकी शक्ति का द्योतक समझा जा सकता है। एक सोये हुए गजराज तथा सिंह को देख कर ही भय की उत्पत्ति हो सकती है, यद्यपि इस भय के मूल में भी दोनों पशुओं की शक्ति का आतंक तो अन्तर्हित रहता ही है। 'कामायनी' की निम्न लिखित पंक्तियों को लीजिए :—

“देखा मनु ने वह अति रंजित

विजन विश्व का नव एकान्त ।

जैसे कोलाहल सोया हो

हिम शीतल जड़ता-सा श्रान्त ।”

विजन विश्व के नव एकान्त में हिम शीतल जड़ता की भाँति कोलाहल का श्रान्त होकर सोना कितनी भव्यता लिये हुए है ! कोलाहल के इस प्रकार श्रान्त होकर सोने में जो

विराट्-भावना है उसका एक कारण यह भी है कि यह भव्यता कोलाहल की अनुपस्थिति से ही उत्पन्न नहीं होती; इस अपार शान्ति का कारण है उस विराट् शक्ति का आतंक, जिसके स्पर्श मात्र से मानों समस्त निर्जन एकान्त ही भयभीत-सा होकर मूक हो गया जान पड़ता है। साधारण आतङ्क से ही जब कोलाहल शान्त हो जाता है तब उस विराट् शक्ति के आतङ्क का तो कहना ही क्या ! कामायनी में महाकवि प्रसाद भव्यता के कवि के रूप में प्रकट हुए हैं। इस महाकाव्य के जल-प्लावन का समस्त दृश्य ही विराट्-भावना से परिपूरित है। भव्य कवि के रूप में अभी प्रसादजी की आलोचना नहीं होने पाई है; हिन्दी के आलोचकों का ध्यान इस ओर जाना आवश्यक जान पड़ता है। इस दृष्टिकोण को लक्ष्य में रखे बिना यदि इस महाकवि की आलोचना की जायगी तो वह अधूरी ही रहेगी। अनेक विराट् चित्र कामायनी में अनायास मिल जायेंगे। सूक्ष्म वस्तु में भी विराट्-भावना का समावेश किया जा सकता है। देखिए, चिन्ता जैसी अमूर्त वस्तु का प्रसाद जी ने कैसा भव्य चित्र खींचा है :—

“ओ चिन्ता की पहली रेखा,

अरी विश्व वन की व्याली;

ज्वालामुखी स्फोट के भीषण

प्रथम कंप-सी मतवाली।”

विश्व-वन की सर्पिणी कितनी विशालकाय और कितनी भयंकर होगी और कितना भीषण होगा ज्वालामुखी-स्फोट का प्रथम कम्प !

आधुनिक हिन्दी कवियों में श्री सियारामशरण गुप्त का

‘बापू’ भी विराट् काव्य के उदाहरणों में निःसंकोच रखा जा सकता है । कृशकाय महात्मा का जो विराट् रूप निम्नलिखित पंक्तियों में व्यक्त हुआ है, अपनी भव्यता के कारण चित्त को एक साथ चमत्कृत और आह्लादित कर देता है —

“भङ्गावात आते हैं प्रचण्ड रोष गति से
मुक्त असंयति-से
उच्चशीर्ष कितने महीरुहों को जड़ से
पकड़ पकड़ के
ऊपर उछाल कर धूलि खिला जाते हैं
निम्न भूमि-तल की,
कम्पन-विभीति तुम्हें एक भी न झलकी !”

ऐसे विराट् काव्य के लिए कल्पना की विशालता, भाव-गरिमा, अनुभूति की तीव्रता एवं अभिव्यक्ति की तरलता अपेक्षित होती है । श्री सुमित्रानंदन पंत की ‘परिवर्तन’ शीर्षक कविता भी विराट् काव्य का उत्कृष्ट उदाहरण है ।

श्री सियारामशरण गुप्त की निम्नलिखित प्रसिद्ध कविता को देखिए :—

“पद-पूजन का भी क्या उपाय,
तू गौरव-गिरि, उत्तुङ्ग काय !
तू अमल धवल है, मैं श्यामल,
ऊँचे पर हैं तेरे पद-तल;
यह हूँ मैं नीचे का तृण-दल ।
पहुँचूँ उन तक किस भाँति हाथ
तू गौरव-गिरि, उत्तुङ्ग काय !

हों शत शत भंभावात प्रबल,
 फिर भी स्वभावतः तू अविचल ।
 मैं तनिक तनिक में चिर-चंचल;
 मेढूँ कैसे यह अन्तराय ?
 तू गौरव-गिरि उत्तुंग काय !
 अविरत तेरा करुणा-निर्भर
 अगणित धाराओं से भर-भर,
 जीवित रखता है जीवन भर
 मेरा यह जीवन जड़ित प्राय,
 तू गौरव-गिरि उत्तुंग काय !
 है जहाँ अगम्य दिवाकर-कर
 तेरे गह्वर भी आकर वर
 हैं ऊँचों से भी ऊँचे पर
 मन उन तक भी किस भाँति जाय ?
 तू गौरव-गिरि उत्तुंग काय !”

विचारों की भव्यता एवं विराट् कल्पना के कारण ही यह कविता इतनी सुन्दर बन पड़ी है । कोई भी कल्पना तब तक विराट् नहीं कही जा सकती जब तक उसमें सीमा का अभाव न हो; किसी पदार्थ की अपरिमितता तथा तज्जन्य शक्ति ही उसे विराट् बनाती है । भला, नीचे का तृण-दल ऊँचे पर के पद-तल को कैसे पहुँचे ? ससीम की असीम तक पहुँचने की कितनी असहायता इन पंक्तियों में व्यक्त हो रही है ! जिस क्षण कोई यह कहने लगे कि यह विराट् तो है किन्तु कितना विराट् है यह मैं जानता हूँ, उसी क्षण काव्य-

गत भव्यता अदृश्य हो जाती है। कवि की विराट् कल्पना और उसकी प्रचण्ड अनुभूति ही भव्यता की जननी है।

विराट्-कल्पना का एक और उदाहरण देखिये :—

“ज्यों घेर सकल संसार, कुण्डली मार
पड़ा हो अहि विशाल,
आक्रान्त धरा की छाती पर
गुम-सुम बैठा मध्याह्न-काल !”

(नरेन्द्र)

आक्रान्त धरा की छाती पर संसार को घेर कर कुण्डली मार कर जो सर्प बैठा हो, भला उसकी विशाल काया और उसकी शक्ति की भी कोई सीमा है ! ग्रीष्म के मध्याह्न-काल की इस रूप में विराट् कल्पना द्वारा जी चकरा उठता है !

यहाँ पर यह प्रश्न उठाया जा सकता है कि सौन्दर्य और भव्यता में क्या अन्तर है ? भव्यता भी एक दृष्टि से है तो सौन्दर्य का ही एक प्रकार, किन्तु साधारणतः सौन्दर्य की जो कल्पना हमारे मन में रहती है, वह उस पदार्थ तक ही सीमित रहती है, किन्तु विराट् भावना में जो सौन्दर्य निहित रहता है उसमें सीमा का उल्लङ्घन है, वहाँ पर सीमा का कोई बन्धन नहीं। महापथ के पथिक प्रसाद ने गाया था—

“इस पथ का उद्देश्य नहीं है
श्रान्त भवन में टिक रहना।
किन्तु पहुँचना उस सीमा पर
जिसके आगे राह नहीं।”

भव्यता का मार्ग भी इसी प्रकार असीम का मार्ग है। भव्यता और सौन्दर्य में एक दूसरा अन्तर यह भी है कि विराट्-शक्ति-जन्य भव्यता के कारण हम बहुत समय तक उसका चिन्तन नहीं कर सकते, सुन्दरता का आकर्षण हमें बार बार उसकी चिन्तना के लिए प्रेरित करता है

‘दीठि जहीं जहँ जात रहत तितही ठहराई ।’

बर्क तथा प्रो० बाल्डविन आदि विद्वानों के मतानुसार भव्य वस्तुएँ अपनी गौरव-गरिमा से हमें भयभीत कर देती हैं क्योंकि हमारी बुद्धि भ्रमवश नश्वर शरीर को ही आत्मा समझ, नाम-रूपात्मक देह के नाश के विचार से काँप उठती है किन्तु सुन्दर वस्तुओं से हमारे मन को सुख और शांति प्राप्त होती है। इसके विपरीत डायसन जैसे दार्शनिक सुन्दर और भव्य में कुछ अंतर करने की आवश्यकता नहीं समझते। उनकी दृष्टि में व्यक्तिगत जगत् से ऊपर उठ कर अपने प्रकृत स्वरूप में स्थित होने से ही हमें सौन्दर्य किंवा भव्यता की अनुभूति होती है।

संवेदना का हेत्वाभास

काव्य में सर्वत्र तार्किक बुद्धि का आश्रय लेने से सम्यक् रसास्वादन नहीं हो सकता। 'साकेत' में उर्मिला की निम्न-लिखित रसमयी उक्ति को देखिए :—

‘आप अवधि बन सकूँ कहीं तो क्या कुछ देर लगाऊँ,
मैं अपने को आप मिटाकर, जाकर उनको लाऊँ।’

उर्मिला स्वयं अवधि बन कर अपने आपको मिटाने के लिए तैयार है। कोई यदि तर्क का सहारा लेकर यह कहने लगे कि जब उर्मिला अवधि बन कर अपने आपको मिटा देगी तब फिर प्रिय से मिलेगी क्या खाक ! तो उस तार्किक की तर्क-बुद्धि पर कोई आरोप नहीं करेगा किन्तु तर्क और काव्य का अनुशीलन दो भिन्न भिन्न वस्तुएँ हैं। हेत्वाभास के कारण किसी शुष्क तार्किक को चाहे इन पंक्तियों में आनन्द न मिले, इनको असत्य कह कर चाहे वह इनकी खिल्ली उड़ावे किन्तु कोई भी सहृदय पाठक इस रसात्मक उक्ति से आनन्द उठाये बिना नहीं रह सकता। काव्य में हेत्वाभास भी आनन्द का कारण हो सकता है।

अंग्रेज़ी भाषा के महान् विचारक तथा सुप्रसिद्ध लेखक रसकिन ने बतलाया है कि कभी-कभी हम किसी वस्तु में चमत्कारपूर्ण सूक्ष्म (Fancy) अथवा आवेश के कारण उस गुण का आरोप कर डालते हैं जो वस्तुतः उसमें नहीं पाया जाता। ‘गुञ्जन’ की निम्न लिखित पंक्तियों को लीजिये :—

“जग के दुख-दैन्य-शयन पर
वह रुग्णा जीवन-बाला
रे कब से जाग रही, वह
आँसू की नीरव माला !

पीली पड़, निर्बल, कोमल,
कृश देह-लता कुम्हलाई;
विवसना लाज में लिपटी,
साँसों में शून्य समाई !

रे म्लान अंग, रँग, यौवन !
चिर-मूक, सजल, नत-चितवन !
जग के दुख से जर्जर-उर
बस मृत्यु-शेष है जीवन !!

वह स्वर्ण-भोर को ठहरी
जग के ज्योतित आँगन पर
तापसी विश्व की बाला
पाने नव-जीवन का वर !”

उक्त पंक्तियों में एक प्रकार की चमत्कारजन्य नवीन सूझ का ही प्राधान्य है। कोई इस बात पर विश्वास नहीं करेगा कि चाँदनी जग के दुख-दैन्य-शयन पर रुग्णा जीवन बाला के रूप में जाग रही है तथा यह तापसी विश्व की बाला नव-जीवन का वर पाने के लिए स्वर्ण-भोर की प्रतीक्षा में ठहरी हुई है और न शायद कवि ही यह जानता होगा कि उसकी इन पंक्तियों पर पाठक विश्वास कर लेंगे। कविगण इस प्रकार का आरोप सदा से करते आये हैं। इतना ही नहीं, पंत जी ने तो भौरों के गुंजन को भी उन्मन बतला कर उन पर अपनी ही

भावना का आरोप कर दिया है क्योंकि उन्हीं के शब्दों में 'गुञ्जन' उनके प्राणों की उन्मन गुंजन मात्र है।

“रूपहले, सुनहले आम्र-बौर,
नीले, पीले औ ताम्र-भौर,
रे गन्ध-अन्ध हो ठौर-ठौर,

उड़ पाँति-पाँति में चिर-उन्मन,
करते मधु के बन में गुंजन।”

किन्तु इसी कवि ने भावावेश की हालत में इस प्रकार के उद्गार भी प्रकट किये हैं :—

शैवलनि ! जाओ मिलो तुम सिन्धु से
अनिल आलिंगन करो तुम गगन का,
चन्द्रिके ! चूमो तरङ्गों के अधर
उडुगनो ! गाओ पवन वीणा बजा।

नदी का प्रेमपूर्वक समुद्र से मिलना, अनिल का गगन को आलिंगन करना, चन्द्रिका का तरंगों के अधर चूमना और पवन की वीणा बजाकर उडुगणों का गाना— इन सबमें कवि ने भावावेश के कारण मनुष्य के-से कार्यव्यवहार का समारोप किया है जिसे रसकिन ने Pathetic Fallacy अथवा संवेदना के हेत्वाभास की संज्ञा दी है।

भारतीय साहित्य के लिये यह कोई नया विचार नहीं है। हाँ, यह हो सकता है कि इस प्रकार के आरोप का कोई नामकरण न किया गया हो। महाकवि कालिदास ने मेघदूत में लिखा है :—

‘धूमज्योतिः सलिलमरुतां सन्निपातः क मेघः
सन्देशार्थाः क पटुकरणैः प्राणिभिः प्रापणीयाः

इत्यौत्सुक्यादपरिगणयन्गुह्यकस्तं ययाचे
कामार्ता हि प्रकृतिकृपणाश्चेतनाचेतनेषु ।'

मेघ को सन्देशवाहक बना कर भेजना यज्ञ के भावावेश का ही द्योतक है, औत्सुक्यवश वह यह नहीं देख पाता कि इसमें सन्देश वहन करने की शक्ति है भी या नहीं। इस प्रकार का काव्यगत आरोप रमणीय होने के कारण सहृदय व्यक्तियों के लिए मंत्र-शक्ति का काम करता रहा है। न जाने मेघदूत की इस कमनीय कल्पना ने कितने अन्य प्रकृति-दूतों का भी कवियों द्वारा निर्माण करवा डाला। 'प्रियप्रवास' में हरिऔधजी ने भी पवन-दूत की कल्पना का सन्निवेश कर ही दिया। कालिदास और रसकिन के विचारों में साम्य दिखलाने के लिए रसकिन की कुछ पंक्तियों को अविकल उद्धृत करना यहाँ असंगत न होगा—

The state of mind which attributes to it the characters of a living creature is one in which the reason is unhinged by grief. All violent feelings have the same effect. They produce in us a falseness in all our impressions of external things which I would generally characterize as Pathetic Fallacy.

अर्थात् 'मन की जिस अवस्था में मनुष्य किसी अचेतन वस्तु में चेतनता का आरोप करता है, उस समय उसकी तार्किक बुद्धि पर दुःख का आवरण चढ़ा रहता है। दुःख का ही क्यों, अन्य प्रबल आवेगों का भी वही प्रभाव पड़ता है। उनके कारण वस्तुगत तथ्य पर हमारा ध्यान नहीं जाता। बाह्य वस्तुओं पर हम एक प्रकार से असत्य की छाप लगा

देते हैं और इसी को मैं सामान्यतः संवेदना का हेत्वाभास कहता हूँ।' कालिदास भी ठीक यही बात कह रहे हैं "कामार्ता हि प्रकृतिरुपणारचेतनाचेतनेषु"।

उक्त विचार-धारा के स्पष्टीकरण के लिए और उदाहरण देने होंगे। 'साकेत' की निम्नलिखित पंक्तियों को लीजिये :—

‘तुझ पर मुझ पर हाथ फेरते साथ यहाँ,
शशक, विदित है तुझे आज वे नाथ कहाँ ?
तेरी ही प्रिय जन्मभूमि में, दूर नहीं,
जा तू भी कहना कि उर्मिला क्रूर वहीं ।”

उर्मिला शशक से कह रही है कि मैं तुझे भी छोड़े देती हूँ, तू भी जंगल की राह ले। जाकर स्वामी से निवेदन कर देना कि क्रूर उर्मिला मेरे साथ भी नहीं आई, वह अभी तक अयोध्या में ही है। वस्तुतः देखा जाय तो न शशक बन में ही जायगा और न उर्मिला का सन्देश ही लक्ष्मण को सुनायेगा। उस बेचारे में संदेश सुनाने की शक्ति भी कहाँ ! यह उर्मिला के भावावेश के उद्गार मात्र हैं।

तुलसीदास जी ने भी रामचन्द्र के मुख से इसी प्रकार के उद्गार प्रकट करवाये हैं, जब वे वियोगोन्माद में इस बात को भूलकर कि पशु-पक्षियों में सीता का पता बतलाने की शक्ति कहाँ है, उनको सम्बोधित करके पूछने लगते हैं :—

हे खग-मृग हे मधुकर-स्रोती,
तुम देखी सीता मृग-नैनी।

वास्तव में इन पंक्तियों में वस्तुगत तथ्य नहीं है। इनमें गंभीर प्रेम का भावमय चित्र है और एक सत्य का द्योतक है, तथापि यह अक्षरशः सत्य नहीं है। इसीलिए रसकिन

ने इस प्रकार के काव्यगत वर्णन को संवेदना के हेत्वाभास के नाम से अभिहित किया है ।

कालिदास के निम्नलिखित श्लोकों में मृगियों और लताओं की इस अपूर्व शक्ति को तो देखिये— राम को किस प्रकार उन्होंने मार्ग बतला दिया था—

मृग्यश्च दर्भाङ्कुरनिर्व्यपेक्षाः
तवागतिज्ञं समबोधयन्माम्
व्यापारयन्त्यो दिशि दक्षिणस्या
मुत्पद्मराजीनि विलोचनानि ।
त्वं रक्षसा भीरु यतोऽपनीता
तं मार्गमेताः कृपया लता मे
अदर्शयन्वक्तुमशक्नुवत्यः
शाखाभिरावर्जितपल्लवाभिः ।

शकुन्तला की विदाई के समय जब करव वृक्षां से कहते हैं—

पातुं न प्रथमं व्यवस्यति जलं युष्माध्वपीतेषु या
नादत्ते प्रियमण्डनापि भवतां स्नेहेन या पल्लवम्
आदौ वः कुसुमप्रसूतिसमये यस्या भवत्युत्सवः
सेयं याति शकुन्तला पतिगृहं सर्वैरनुज्ञायताम् ॥

तो इन पंक्तियों में संवेदना (Pathos) का कितना समुद्र उमड़ा पड़ता है ।

“सो यह जाति शकुन्तला आज पिया के गेह
आज्ञा देहु पयान की तुम सब सहित सनेह ।”

किन्तु वृक्ष क्या आज्ञा देंगे ? यह कवि का आरोप ही तो है न ? किन्तु कितना सच्चा, कितना प्रभावशाली, कितना मर्मस्पर्शी है यह !

सत्य और कविता का यद्यपि कोई स्वाभाविक वैर नहीं है, किन्तु काव्य में वस्तुगत सत्य का स्थान गौण ही है। राम वियोग-विह्वल उन्माद की दशा में खग-मृग तथा मधुकर्ों से सीता का पता पूछते फिरे थे या नहीं, कएव ने वृत्तों से शकुन्तला को पति-गृह जाने की आज्ञा देने के लिए कहा था या नहीं, मृगियों और लताओं ने राम का मार्ग-प्रदर्शन किया था या नहीं, इसकी ओर हमारा ध्यान नहीं जाता। संवेदना हमारी तार्किक बुद्धि को परास्त कर देती है। यह संवेदना भी कितनी सच्ची है, विरहोन्माद की हालत में इस प्रकार का व्यवहार-समारोप कितना स्वाभाविक है ! इसमें काव्य की जो मनोमोहक सत्यता है, वह हमें मुग्ध कर लेती है।

रसकिन ने अपने वर्गीकरण में चार प्रकार के मनुष्यों का उल्लेख किया है—

(१) वे मनुष्य जो किसी भाव के वश नहीं होते, इसलिए जो वस्तुगत सच्चाई को ही देखते हैं।

(२) वे मनुष्य जिनमें प्रबल भावावेश पाया जाता है, इसलिए जिनके चित्रण में सच्चाई के दर्शन नहीं होते।

(३) वे मनुष्य जो प्रबल भावावेश के अधीन तो हो जाते हैं किन्तु फिर भी जिनकी दृष्टि सत्य से विमुख नहीं होती।

(४) वे मनुष्य जो उतने ही प्रबल और शक्तिशाली हैं जितना किसी मनुष्य के लिए होना संभव है किन्तु फिर भी जो एक अनिर्वचनीय विराट् शक्ति से अभिभूत हो जाते हैं।

वास्तव में, बात यह है कि जब तक भावाभिव्यक्ति में सच्चाई है, तब तक वस्तुगत सच्चाई हो या न हो, काव्य इसकी परवाह नहीं करता। किसी काव्यमय वर्णन से हमें

इसीलिए आनन्द की उपलब्धि नहीं होती कि उसमें हेत्वाभास है, बल्कि इसलिए कि उस वर्णन में एक सच्चे भाव का सुन्दर व्यक्तीकरण हुआ है। किन्तु जिस क्षण भाव की सचाई जाती रहेगी, उसी क्षण काव्य का मज़ा भी किरकिरा हो जायगा। देखिये, 'स्कन्दगुप्त' में शर्वनाग की यह उक्ति इसीलिए इतनी मर्मस्पर्शिणी हो सकी है कि इसमें उसके निराशाजन्य क्रोध के सच्चे उद्गार हृदय से निकल पड़े हैं :—

“देश के हरे कानन चिता बन रहे हैं। धधकती हुई नाश की प्रचण्ड ज्वाला दिग्दाह कर रही है। अपने ज्वालामुखियों को बर्फ की मोटी चादर से छिपाये हिमालय मौन है। पिघल कर क्यों नहीं समुद्र से जा मिलता अरे जड़, मूक, बधिर, प्रकृति के टीले !”

देश की दुर्दशा पर निर्जीव हिमालय क्या द्रवीभूत होगा ? किन्तु शर्वनाग के भावावेश ने इस उक्ति में सचाई के प्राण फूँक दिये हैं। यह है संवेदना का हेत्वाभास।

किन्तु जो विश्व के महान् कवि हुए हैं वे अपने भावावेश पर भी संयम रखते हैं। भावावेश की भी एक सीमा होती है जिसकी पारिधि के बाहर जाना एक श्रेष्ठ कवि के लिए वाञ्छनीय नहीं है। तुलसीदास के वियोग-विह्वल राम ने पशु-पक्षियों को सम्बोधित कर उनसे सीता का पता पूछने की जो आकुल उत्सुकता दिखलाई है, वहाँ तक तो ठीक है किन्तु यदि खग-मृग राम के प्रश्नों का उत्तर भी देने लग जाते तो इस वर्णन में कितनी अस्वाभाविकता आ जाती ! हम कवि के वर्णन की सत्यता पर भी सन्देह करने लग जाते।

सूरदास जब विरहिणी गोपिकाओं द्वारा चंद्रमा को फट-कार सुनाते हैं तो उसमें विरहोन्माद की एक सचाई है—

‘कोऊ बरजोरी या चंद्रहि

अति ही क्रोध करत हम ऊपर कुमुदिनि-कुल-आनंदहि ।’

बेचारा चन्द्रमा कहाँ क्रोध करता है किन्तु अपनी अन्तर्दशा के अनुसार गोपियों ने उस पर भी क्रोध का आरोप कर डाला । ‘पिउ पिउ’ पुकारते हुए चातक को यदि विरहिणी गोपियाँ ‘विरहिन नारि’ कहने लगती हैं तो उनके भावावेश की सचाई पर कौन प्रश्न उठा सकेगा ?—

‘चातक न होइ कोउ विरहिन नारि ।’

जब प्रियप्रवासकार रूपकातिशयोक्ति का आश्रय ले, कृष्ण के वियोग में उदित होते हुए सूर्य को ‘आग का गोला’ कह उठते हैं (अब नभ उगलेगा आग का एक गोला) तथा जब गोस्वामी तुलसीदास सूर्य से उदित न होने के लिए प्रार्थना करते हैं

उदय करहु जनि रवि रघुकुलगुर ।

अवध विलोकि सूल होइहि उर ॥

तब उनके भावों में सचाई है और सचाई की मोहिनी शक्ति ही इस ‘संवेदना के हेत्वाभास’ की जान है । रसकिन ने जिसे Pathetic Fallacy कहा है, उसका भारतीय आलंकारिकों ने कोई नामकरण किया है या नहीं, इसमें मुझे सन्देह ही है । संवेदना के हेत्वाभास के कुछ उदाहरण हेतूत्प्रेक्षा, समासोक्ति, रूपकातिशयोक्ति अथवा अपह्नुति आदि अलंकारों में चाहे अंतर्भूत किये जा सकें किन्तु ‘हे खग मृग हे मधुकर-रत्नेनी । तुम देखी सीता मृग-नैनी ॥’ जैसी उक्तियों को हम संभवतः किसी अलंकार में शामिल नहीं कर सकते ।

काव्य की आत्मा

‘वाक्यं रसात्मकं काव्यम्’ के अनुसार रस को ही काव्य की आत्मा माना गया है। तत्त्वज्ञ दार्शनिकों ने जिस प्रकार नेति-नेति द्वारा आत्मस्वरूप के प्रतिपादन का प्रयत्न किया है, उसी प्रकार आलंकारिकों ने भी काव्य की आत्मा का निरूपण करते समय नेति-पथ का अवलम्बन किया है। शब्दार्थरूप काव्यशरीर, रीति और अलङ्कार, इनमें से किसी को भी काव्य की आत्मा नहीं कहा जा सकता। काव्य का लक्ष्य रस है; शब्द, रीति, अलंकार, छन्द आदि तो उसके साधन हैं। पाठक के मन में रसोद्बोध जागृत करने के लिए शब्द और अर्थ का आश्रय ग्रहण करना ही पड़ता है। ध्वन्यालोककार ने इसीलिए कहा है :—

आलोकार्थी यथा दीपशिखायां यत्नवान् जनः

तदुपायतया तद्वदर्थं वाच्ये तदादृतः ।

अर्थात् आलोक के लिए मनुष्य को जिस प्रकार दीप-शिखा के लिए प्रयत्नशील होना पड़ता है, उसी प्रकार रस-सृष्टि के लिए शब्दार्थमय कथा-वस्तु की अपेक्षा होती है। किन्तु इस सम्बन्ध में एक बात ध्यान में रखने योग्य है। जिस प्रकार अंग-प्रत्यंगों के एकत्र सम्मिलन से ही प्राण-प्रतिष्ठा नहीं हो सकती, प्राण-शक्ति ही अंग-प्रत्यङ्गों की सृष्टि करती है, उसी प्रकार भाषा के घटाटोप, अलंकार एवं रीति-समुच्चय से ही रस का प्रादुर्भाव नहीं हो सकता। चेतनाहीन शब्द-शरीर में अलंकार शोभित नहीं हो सकते, चाहे कितनी ही विशिष्ट रीति से उनकी नियोजना क्यों न की जाय। “सहृदयों में

रसोद्रेक करने के लिए कविता का उच्च कोटि का होना परमावश्यक है। यही कविता की कसौटी है। इसी तुला में पूरी उतरने पर कविता अपना नाम सार्थक कर सकती है। शब्दाडम्बर में काव्य नहीं होता। किंकिणी-नाद से गौ पयस्विनी नहीं हो जाती। सुन्दर पुत्तलिका और सजीव बालिका में जो अन्तर है, वही कविता और शब्दाडम्बर में है। पद और अर्थ यदि कविता-कामिनी के शरीर हैं, तो रस आत्मा है। शब्द और अर्थ यदि पुष्प की पंखड़ियों के दल हैं, तो रस सौरभ है। शब्द और अर्थ की यदि दीपक से उपमा दी जाय, तो रस ज्योति के समान है। वह काव्य में ऐसे ही व्याप्त रहता है, जैसे भानु-मण्डल में उष्णता। हिम में से यदि शीतलता निकाल ली जाय और अग्नि को तेज-विहीन कर दिया जाय तो वे निःसार हो जायेंगे। रस-विहीन काव्य भी उसी प्रकार विद्वानों के आदर-योग्य नहीं रह जाता।” रसोत्कर्ष ही काव्य की श्रेष्ठता का मापदण्ड है और रस के व्याघात में ही काव्य का दोष सन्निहित है। माधुर्य प्रभृति गुण वास्तव में रस के ही गुण हैं, उन्हें शब्दार्थ के गुण बतलाना तो केवल औपचारिक है।

पाठक के मन में रस-संचार होता है या नहीं, यह केवल काव्य पर ही निर्भर नहीं, पाठक की सहृदयता की भी अपेक्षा रखता है। पाठक यदि सहधर्मी नहीं हुआ तो उसके लिए काव्य व्यर्थ ही है। इसीलिए कहा गया है :—

इतर तापशतानि यथेच्छया
चितर तानि सहे चतुरानन
अरसिकेषु कवित्वनिवेदनं
शिरसि मा लिख मा लिख मा लिख ।

भवभूति ने भी विपुला पृथ्वी और काल की निरवधिता को देखते हुए समानधर्मा पाठक उत्पन्न होने की आशा से संतोष की साँस ली थी। हिन्दी के छायावादी और रहस्यवादी कवियों को भी जब सहृदय आलोचक और पाठक मिलने लगे, तब उनके काव्य भी समादृत होने लगे।

वासना के बिना काव्य का रसास्वादन संभव नहीं। 'न जायते रसास्वादो बिना रत्यादिवासनाम्।' अनुभूति, भाव या ज्ञान के संस्कारों को जिनके कारण पूर्वानुभूति की स्मृति मन में जागृत रहती है, वासना कहा जाता है। इस वासना के अभाव के कारण ही कालिदास का शाकुन्तल, पन्त की ग्रन्थि तथा चण्डीदास अथवा विद्यापति का काव्य बालकों के लिए निष्फल है। वयस्क होने पर भी यदि पाठकों के मन में वासना का अभाव हो, तो काव्य के रसास्वादन की दृष्टि से हम उन्हें शिशु ही कहेंगे।

अभिव्यक्ति के असंख्य प्रकार हो सकते हैं; उन्हें सीमित कर देना संभव नहीं। कवि-प्रतिभा में तो अपूर्व निर्माण करने की शक्ति होती है; इसीलिए सिंह और सपूत की तरह शायर भी लीक-लीक नहीं चलता। ऐसी कोई वस्तु नहीं जिसे रस-सिद्ध कवीश्वर काव्योचित रूप न दे सके। इस अपार काव्य-संसार का तो कवि ही एक मात्र प्रजापति है। प्रतिभा के नियम के अलावा उस पर और कोई भी नियम लागू नहीं हो सकता। यही कारण है कि निराला और पंत जैसे कवि परम्परागत रूढ़ियों को छिन्न-भिन्न कर अपने लिए मार्ग प्रशस्त कर लेते हैं। "व्यवहारयति यथेच्छं सुकविः काव्ये स्वतंत्रतया।"

किन्तु काव्य में अनौचित्य का समावेश होने से रस-भङ्ग हुए बिना नहीं रहता। औचित्य-योजना ही रसोपनिषद् है, काव्य-तन्त्र की परा विद्या है। राम-लक्ष्मण को जिस रूप में हम देखते आये हैं, उससे प्रतिकूल चित्रण में कुछ आलोचक अनौचित्य देखते हैं। गुप्तजी की 'पंचवटी' में जो लक्ष्मण-सीता का वार्तालाप है, वह कुछ समीक्षकों की दृष्टि में सीमोल्लङ्घन कर रहा है।

एक शब्द यथार्थवाद और आदर्शवाद के सम्बन्ध में भी। काव्य-जगत वस्तु-जगत नहीं, वह कल्पना-लोक है; किन्तु जैसा कि अभिनवगुप्त ने कहा है—“वर्णन इस प्रकार का होना चाहिये कि जिससे पाठक की प्रतीति का खण्डन न हो।” काव्य कल्पना-लोक की सृष्टि होते हुए भी हमें अवास्तविक न लगना चाहिए। काव्य में एक दृष्टि से यथार्थवाद और आदर्शवाद का तो प्रश्न उठाना ही अनावश्यक है; क्योंकि यथार्थवाद और आदर्शवाद का स्वतः कोई महत्व नहीं, ये तो रस-सृष्टि के ही दो प्रकार हैं। कौन कवि किसका आश्रय लेता है, यह उसकी प्रतिभा पर निर्भर है। वस्तुतः काव्य की आत्मा (रस) की रक्षा होनी चाहिए, वह चाहे यथार्थवाद द्वारा हो, चाहे आदर्शवाद द्वारा। आत्मा को वेच कर यदि सारा संसार भी मिलता हो तो भला वह किस काम का ?

सूरदास और शुद्धाद्वैत

सूरदास वल्लभाचार्य के शिष्य थे। वल्लभाचार्य का दार्शनिक सिद्धान्त शुद्धाद्वैत के नाम से प्रसिद्ध है। इसके अनुसार समस्त जड़-चेतन सृष्टि ब्रह्म-रूप ही है। ब्रह्म सच्चिदानन्द रूप है, जीव आनन्द रहित केवल सत्, चित् रूप है और जगत् आनन्द एवं चैतन्य रहित केवल सदरूप है। जीवात्मा में परमात्मा के आनन्द रूप का और जड़ जगत् में चिदानन्द रूप का तिरोभाव है। सूरदास सिद्धान्त रूप से शुद्धाद्वैत के मानने वाले थे जैसा कि उनके निम्नलिखित पद से जान पड़ता है :—

सदा एकरस एक अखंडित आदि अनादि अनूप ।
कोटि कल्प बीतत नहि जानत बिहरत जुगल स्वरूप ॥
सकल तत्त्व ब्रह्माण्ड देव पुनि माया सब विधि काल ।
प्रकृति पुरुष श्रीपति नारायण सब हैं अंश गोपाल ॥
करम जोग पुनि ज्ञान उपासन, सब ही भ्रम भरमायो ।
श्रीवल्लभ गुरु तत्त्व सुनायो, लीला-भेद बतायो ॥
ता दिन ते हरि लीला गायी, एक लच्छु पद बन्द ।
ताको सार 'सूर सारावलि' गावत अति आनन्द ॥

उक्त पद की व्याख्या से सूरदास के दार्शनिक सिद्धान्तों का स्पष्टीकरण हो सकेगा। सदा एकरस— ब्रह्म में कोई परिवर्तन नहीं होता। जैसे आग से चिनगारियां निकलती हैं, उसी प्रकार ब्रह्म से जड़-चेतन सृष्टि का आविर्भाव होता है। सामान्यतः यही 'अविकृत परिणाम' का सिद्धान्त कहलाता है।

एक— शुद्धाद्वैत पद बहुत साभिप्राय है। वल्लभाचार्य के मतानुसार बिना माया की सहायता के भी उपनिषद् आदि में वर्णित ब्रह्म का निरूपण किया जा सकता है। अद्वैत माया रहित शुद्ध अद्वैत है। कारण और कार्य दोनों एक हैं। ब्रह्म ही जगत् का उपादन और निमित्त कारण दोनों है।

अखंडित— वल्लभ ब्रह्म को अखण्ड मानते हैं और जीव को उसका अंश। किन्तु ब्रह्म और जीव में तादात्म्य संबन्ध होने के कारण उनमें कोई मौलिक अन्तर नहीं है।

आदि अनादि— ब्रह्म ही जड़-चेतन सृष्टि का आदिम कारण है; वह स्वयं अनादि है। उसका कोई कारण नहीं है।

विहरत जुगल स्वरूप— ‘एकोऽहं बहुस्याम्’ की इच्छा ही ब्रह्म के अनेक रूपों में व्यक्त होने का कारण है। जब वह पुराण पुरुषोत्तम किसी पर कृपा करना चाहता है, तब वह अपने उस कृपा-पात्र को भी दिव्य शरीर प्रदान कर देता है और उसके साथ अनन्त काल तक विहार करता है। यह ‘नित्य लीला’ के नाम से प्रसिद्ध है। इसमें प्रभु भक्त के वश में रहता है और उसे अपने सान्निध्य का आनन्द प्रदान करता है। यह साधारणतः ‘भजनानन्द’ या ‘स्वरूपानन्द’ के नाम से प्रसिद्ध है जिसका तैत्तिरीय उपनिषद् और भागवत में भी वर्णन किया गया है। यह आनन्द प्रयत्न-साध्य नहीं, प्रभु-कृपा का ही फल है। इसे ही वल्लभ सम्प्रदाय वाले ‘पुष्टि’ नाम से अभिहित करते हैं। भगवत्कृपा का सर्वोत्तम उदाहरण गोपियों का है जिन्होंने पुष्टि-मार्ग का प्रदर्शन किया है। जिनको यह दिव्य प्रसाद प्राप्त होता है, वे स्वतः ही पुरुषोत्तम से प्रेम करने लग जाते हैं और उसे न केवल अपना प्रभु अथवा पति ही समझने लगते हैं किन्तु वही उनका

सर्वस्व हो जाता है। इसे ही 'सर्वात्मभाव' कहा जाता है किन्तु यह ज्ञानियों के 'सर्वात्मभाव' से सर्वथा भिन्न है क्योंकि ज्ञानी प्रत्येक वस्तु में ब्रह्म को देखते हैं और भक्त ब्रह्म में सब कुछ देखते हैं। यह सर्वात्मभाव गोपियों में पूर्ण रूप से पाया जाता था, इसलिए परम पुरुषोत्तमस्वरूप भगवान् श्रीकृष्ण को उनके वश में रहना पड़ा था। शुद्धाद्वैत सिद्धान्त के अनुसार इस प्रकार का स्वरूपानन्द ब्रह्मानन्द से भी कहीं बढ़ कर है और यही वल्लभ सम्प्रदाय वालों की मोक्ष की उच्चतम कल्पना है। ब्रह्म और माया, पुरुष और प्रकृति, कृष्ण और राधा— यह पुराण पुरुषोत्तम का युगल रूप है जिसमें वे लीला-मग्न रहते हैं। इस लीला में करोड़ों कल्प बीत जाने का भी पता नहीं चलता।

सकल तत्त्व— वल्लभाचार्य ने सृष्टि-रचना के क्रम में २८ तत्त्व माने हैं— सत्त्व, रज, तम, पुरुष, प्रकृति, महत्, अहंकार, पंचतन्मात्रा, पंच महाभूत, ५ कर्मेन्द्रियाँ, ५ ज्ञानेन्द्रियाँ और मन। यद्यपि सांख्य के तत्त्व और ये तत्त्व आपस में मिलते हैं तथापि इन दोनों में विभिन्नता पाई जाती है। सांख्य के तत्त्वों की तरह वल्लभ-संप्रदाय वाले इन तत्त्वों की पुरुषोत्तम से भिन्न कोई सत्ता नहीं मानते।

सूरदास ने भी तत्त्वों की संख्या २८ ही मानी है यद्यपि उनकी नामावली आचार्य महाप्रभु की नामावली से भिन्न है। सूरदास प्रकृति और पुरुष की गणना तत्त्वों में नहीं करते, जैसा उनके निम्नलिखित पद से स्पष्ट है —

पृथ्वी आप तेज वायू नभ संज्ञा सब्द परस अरु गंध ।
रस और रूप और मन बुद्धि चित अहंकार मति अंध ॥

पान अपान व्यान उदान अरु कहियत प्राण समान ।
तत्तक और धनञ्जय देवदत्त और पौडूक संख द्युमान ॥
राजस तामस सात्विक तीनों जीव ब्रह्म सुखधाम ।
अट्टाईस तत्व यह कहियत सो कवि सूरज नाम ॥

ब्रह्माण्ड— ब्रह्म का परिणाम है, इसलिए यह वास्तविक है और ब्रह्म से अभिन्न है। यह उसी का अंश है। शंकराचार्य ने जगत को जो केवल स्वप्न मात्र बतलाया है उसका वल्लभाचार्य ने खंडन किया है। यह ब्रह्म का आधिभौतिक रूप है, इसमें चित् और आनन्द का तिरोभाव है।

माया, सब विधि, काल— काल, कर्म और माया— ये परम पुरुषोत्तम के भिन्न-भिन्न रूप हैं और उससे अभिन्न हैं। सृष्टि-रचना के कार्य में ये बहुत सहायक होते हैं।

प्रकृति-पुरुष— वल्लभाचार्य ने २८ तत्वों में प्रकृति और पुरुष भी २ तत्व माने हैं। पुरुषोत्तम जब किसी को मोक्ष दिलाना चाहते हैं तब वे अक्षर, काल, कर्म, स्वभाव इन चार रूपों में प्रकट होते हैं। वल्लभ के अनुसार पुराण पुरुषोत्तम के बाद दूसरा दर्जा अक्षर ब्रह्म का ही है। अक्षर ब्रह्म ही प्रकृति और पुरुष के रूप में व्यक्त होता है और प्रकृति का ही विकसित रूप जगत् है। इसीलिए प्रकृति को कारणों का भी कारण कहा गया है।

कर्मयोग, ज्ञान, उपासना— ये सब भ्रम हैं क्योंकि पुष्टि अथवा पुराण पुरुषोत्तम के अनुग्रह से ही जीव का इस संसार से उद्धार हो सकता है। भक्ति के दो भेद हैं— मर्यादा-भक्ति और पुष्टि-भक्ति। मर्यादा-भक्ति के अधिकारी भक्त शास्त्रोक्त श्रवणादि नानाविध साधनों का आश्रय लेते हैं; परन्तु

पुष्टि-भक्ति इससे भी ऊँची चीज़ है। उसमें भक्त को किसी प्रकार की साधना आदि की आवश्यकता नहीं होती। मर्यादा-भक्ति का अधिकार ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्यों में से केवल पुरुषों को है किन्तु पुष्टि-मार्ग बिना किसी भेद-भाव के सब के लिए खुला है। वल्लभाचार्य ने इस बात को भली भाँति जान लिया था कि कर्म, ज्ञान और शास्त्रीय भक्ति उस समय के अनुकूल न थी और स्त्रियों तथा शूद्रों को अपना आध्यात्मिक विकास करने के लिए कोई साधन भी प्राप्त न था। इसीलिए उन्होंने पुष्टिमार्ग लोगों के सामने रखा। उपनिषद्, गीता और भागवत में भी पुष्टि-सिद्धान्त मिलता है और यद्यपि रामानुजादि ने भी इसके महत्त्व को स्पष्टतः स्वीकार किया है तथापि वल्लभाचार्य ने इस सिद्धान्त का प्रतिपादन जिस अभूतपूर्व ढंग से किया है उसका श्रेय उन्हीं को है। अन्य वैष्णव सम्प्रदायों के भक्त भी ईश्वरीय कृपा में विश्वास रखते हैं किन्तु उनकी भक्ति मर्यादा-भक्ति है। इससे विपरीत वल्लभ सम्प्रदाय वालों की भक्ति पुष्टि-भक्ति है। वे भगवान् की भक्ति इसलिए नहीं करते कि वह परम पुरुषोत्तम है किन्तु इसलिए कि वे उनसे प्रेम करते हैं। इनकी भक्ति 'स्नेहात्मिका' भक्ति है और वह परम पुरुषोत्तम जो इनके प्रेम का विषय है 'गोपीजनवल्लभ' कहलाता है। जो पुष्टि-मार्ग का अनुयायी है, वह गोपी का आदर्श अपने सामने रखता है। सूरदास इसी पुष्टि-मार्ग के अनुयायी थे। यदि हम सूरदास के लिए यह कहें कि गोपीजनवल्लभ के प्रेम में संलग्न वे एक गोपिका ही थे तो इसमें कुछ अनुचित न होगा। गोपीजनवल्लभ की लीलाओं का ऐसा गुणगान एक अनन्य प्रेम-संलग्न गोपिका के सिवा भला और कौन कर सकता है? वल्लभ गुरु ने जब सूरदास को लीला-भेद बतला दिया तभी से वे अति प्रमुदित

होकर परम पुरुषोत्तम स्वरूप भगवान् श्रीकृष्ण की लीलाओं को तन्मय होकर गाने लगे। बैकुण्ठ रूप नित्य व्रज में होने वाली इस सूक्ष्म लीला में महात्मा सूरदास अपने एक लाख पदों के साधन से गोपी रूप से सम्मिलित होकर परम गति प्राप्त करने में प्रयत्नशील रहे।

ऊपर 'सूर सारावलि' के जिस पद का उल्लेख किया गया है, वह पद बहुत महत्त्वपूर्ण है क्योंकि इसमें शुद्धाद्वैत और पुष्टि-मार्ग के सब सिद्धान्तों का सार-संकलन है। सूरदास के दार्शनिक सिद्धान्तों के अन्वेषण-अनुसन्धान के लिए यह पद कितना महत्त्वपूर्ण है, ऊपर की व्याख्या से इसका कुछ आभास मिल सकेगा।

शैली और व्यक्तित्व

जो व्यक्ति रात दिन हमारे पास उठता-बैठता है, जो हमारे साहचर्य और सम्पर्क में बहुत-सा समय व्यतीत करता है, उसके हमारी आँखों से ओभल होने पर भी केवल उसकी बोली सुनकर ही हम कह सकते हैं कि यह अमुक मनुष्य है। बहुत दूर से हम किसी आदमी को आता हुआ देखते हैं, तो दूरी के कारण उसकी आकृति से तो भले ही हम उसको न पहचान सकें किन्तु उसकी चाल-ढाल देख कर हम प्रायः बतला देते हैं कि वह कौन है। इसी प्रकार यदि हम किसी लेखक के लेखों को बहुधा पढ़ते रहते हैं, तो हम उस लेखक का नाम देखे बिना भी केवल उसके लेख को देखकर ही कह उठते हैं कि हो न हो, यह तो अमुक व्यक्ति का लेख होगा। उसकी कृति में हमें किसी परिचित व्यक्ति की-सी बोली सुनाई पड़ती है। इससे स्पष्ट है कि बोलने की शैली, चलने की शैली तथा लिखने की शैली—सब में व्यक्तित्व सन्निहित रहता है। हाँ, यह अवश्य है कि जहाँ बोली से तथा किसी व्यक्ति-विशेष की चाल से उस व्यक्ति का पता लगाना सरल है, वहाँ किसी लेख से लेखक का पता लगाना अपेक्षाकृत मुश्किल अवश्य है। बोली में तो उच्चारण-स्थान आदि का प्रत्यक्ष एवं मूर्त सम्बन्ध होने के कारण हम किसी व्यक्ति-विशेष को तुरन्त पहचान लेते हैं किन्तु किसी लेख की सहायता से जहाँ शब्दों के माध्यम द्वारा ही विचार व्यक्त किये जाते हैं, किसी व्यक्ति को पहचानना अभ्यस्त लोगों का ही काम है। किन्तु यह निश्चित है कि शैली मनुष्य के व्यक्तित्व

की अभिव्यक्ति है। इसीलिए फ्रेंच विद्वान् Buffon की उक्ति है 'Style is the man.'

मनुष्य का मन पूर्व-स्मृतियों, विचार-धाराओं, भावनाओं तथा अनेक सदसत् प्रवृत्तियों का पुञ्जीभूत समूह है। शब्दों का स्पर्श प्राप्त होते ही मनुष्य का व्यक्तित्व अभिव्यक्त हुए बिना नहीं रहता। लेखक के शब्द-चयन, वाक्यांशों का घुमाव, वाक्य-विन्यास तथा जीवन के प्रति उसकी व्यक्तिगत विचार-धाराओं के अनुसार उसकी कृतियों में सर्वत्र उसके व्यक्तित्व की छाप मिलेगी। जिस प्रकार मनुष्य की छाया हमेशा उस का अनुसरण करती है, उसी प्रकार लेखक का व्यक्तित्व भी उसकी लेखन-शैली में प्रतिबिम्बित रहता है। जिस प्रकार एक व्यक्ति से हम प्रभावित होते हैं, उसी प्रकार हम एक लेखक की शैली से भी प्रभावित होते हैं। जिस प्रकार हम एक व्यक्ति से प्रेम करते हैं, उसी प्रकार हम किसी लेखक की शैली से भी प्रेम करने लगते हैं। एक ही प्रकार के विचार भिन्न भिन्न ढंग से व्यक्त किये जाते हैं। एक लेखक की शैली नितान्त नीरस हो सकती है तथा दूसरे की अत्यन्त मनोरञ्जक।

किसी लेखक की शैली और विचार-धारा से प्रभावित होकर हम उसके व्यक्तिगत जीवन के बारे में भी जानने के लिए उत्सुक हो उठते हैं। जिसकी लेखन-शैली इतनी प्रभावोत्पादक है, उसका व्यक्तिगत जीवन कैसा होगा, यह जिज्ञासा हमारे मन में घर कर लेती है। यदि शैली में व्यक्तित्व प्रतिबिम्बित न होता तो शायद इस प्रकार की जिज्ञासा हमारे मन में उत्पन्न न होती। लेखक से हमारा व्यक्तिगत परिचय न होने पर भी किसी के लेखों को हम इतने चाव से पढ़ते

हैं, इसका कारण यही है कि उसकी शैली के रूप में हम उसके व्यक्तित्व से ही प्रेम करने लगते हैं और उसकी शैली हमारे आकर्षण की वस्तु हो जाती है।

पोप के मतानुसार शैली विचारों का परिधान (Dress of Thought) है किन्तु यह विचार भ्रामक है। कार्लाइल ने इसका संशोधन करते हुए बतलाया था कि शैली पोशाक की तरह न होकर चर्म के सदृश है। पोशाक को तो हम जब चाहें उतार फेंक सकते हैं किन्तु चर्म के सम्बन्ध में यह बात नहीं; चर्म का शरीर से अभिन्न सम्बन्ध है।

रैले ने शैली पर एक महत्त्वपूर्ण पुस्तक लिखी है जिसमें शैली और व्यक्तित्व पर अपने विचार प्रकट करते हुए उन्होंने लिखा है “Good style is the greatest revealer, it lays bare the soul.” अर्थात् श्रेष्ठ शैली में व्यक्तीकरण की सब से अधिक शक्ति रहती है। यह पाठकों के सामने लेखक की आत्मा को खुले रूप में रख देती है। न्यूमैन का भी कथन है कि अपनी शैली छोड़ देना लेखक की शक्ति के बाहर है। जिस तरह मनुष्य अपने व्यक्तित्व को नहीं छोड़ सकता, जिस तरह मनुष्य अपनी छाया छोड़ कर दूसरे की छाया पर नहीं चल सकता, उसी तरह कोई अपनी लेखन-शैली का परित्याग नहीं कर सकता। हाँ, यह अवश्य है कि वह उसमें सुधार कर सकता है, दूसरों की शैली से प्रभावित हो सकता है। जिस प्रकार हम दूसरे की चाल की नक़ल कर सकते हैं उसी तरह दूसरे की शैली की भी नक़ल की जा सकती है किन्तु नक़ल का मूल से भेद मालूम करना कोई कठिन काम नहीं।

प्रत्येक व्यक्ति के व्यक्तित्व में जैसे आकर्षण नहीं होता, उसी तरह प्रत्येक लेखक की शैली भी आकर्षक नहीं होती। कुछ ही लेखक ऐसे होते हैं जो अपनी शैली की अमिट छाप छोड़ जाते हैं और दूसरे लेखक भी उनकी शैली से प्रभावित होते हैं। ऐसे ही शैलीकारों में अंग्रेजी भाषा के सुप्रसिद्ध लेखक रसकिन और स्टीवेन्सन के नाम प्रमुख हैं। हिन्दी-साहित्य में शैली-निर्माताओं की ओर जब हम दृष्टिपात करते हैं तो हमें आचार्य द्विवेदीजी, शुक्लजी, पं० पद्मसिंह शर्मा, प्रेमचन्दजी, प्रसादजी, जैनेन्द्रजी आदि के नामों का अनायास स्मरण हो आता है। एक प्रतिभाशाली लेखक भी अपने पूर्ववर्ती शैलीकारों की शैली से प्रभावित हो सकता है किन्तु फिर भी वह दूसरों की शैली को इस तरह अपनाता है कि अपनी व्यक्तिगत विशेषताओं के कारण वह शैली उसकी निजी हो जाती है। प्रसिद्ध लेखक और वक्ता बर्क की शैली से जो तनिक भी परिचित हैं, वे भली भाँति जानते होंगे कि उसके हृदय से स्वतः ही उद्गार फूट पड़ते हैं और उनमें पूरी मौलिकता तथा स्वाभाविकता पाई जाती है किन्तु जब भावावेश में आकर वह किसी बात को प्रकट करना चाहता है तो मिल्टन, वर्जिल और बाइबिल की स्मृतियाँ उसके हृदय में जागृत हो उठती हैं और ऐसा जान पड़ता है कि उसके वे उद्गार और दूसरी भाषा में व्यक्त किये ही नहीं जा सकते। मिल्टन आदि के भावों को अपनाने पर भी उनके व्यक्त करने का ढंग उसका अपना होता है।

सारांश यह है कि कोई लाख कोशिश क्यों न करे, लेखक अपने को छिपा नहीं सकता; उसकी शैली में उसका व्यक्तित्व प्रतिबिम्बित होकर ही रहेगा क्योंकि शैली है ही व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति।

कुन्तक और काव्य*

वाणी और अर्थ तो सदा ही संपृक्त रहते हैं किन्तु काव्य की परिधि में उसी उक्ति का प्रवेश हो सकेगा जिसका शब्द-विन्यास वैचित्र्यपूर्ण और अर्थ विच्छित्ति-समन्वित हो। भामह ने इसीलिए शब्द और अर्थ के चारु सम्मिलन को ही काव्य की संज्ञा दी है। उसके मतानुसार वक्रोक्ति ही सब अलंकारों का मूल है; किसी वस्तु के यथायथ वर्णन में काव्यत्व कहाँ ? 'गतोऽस्तमर्को भातीन्दुर्यान्ति वासाय पक्षिणः।' सूर्य अस्त हो गया है, चन्द्र शोभित हो रहा है, पक्षी घोंसलों में विश्रामार्थ जा रहे हैं—इस प्रकार की उक्तियों में काव्यत्व नहीं हो सकता। इसी प्रकार के विचार रवि बाबू ने भी प्रकट किये हैं :—

'Bare information on facts is not literature, because it gives us merely the facts which are independent of ourselves. Repetition of the facts that the sun is round, water is liquid, fire is hot, would be intolerable. But a description of the beauty of the sunrise has its eternal interest for us, because that is not the fact of the sunrise but its relation to ourselves which is the object of perennial interest.'

भामह के बाद कुन्तक ने वक्रोक्ति-सिद्धान्त का विशद विवेचन किया। उसका कहना था कि शत-शत आलङ्कारिक ग्रन्थों के होते हुए भी पूर्ववर्ती आचार्य इस बात का निर्णय

नहीं कर सके कि काव्य की मनोज्ञता का मुख्य हेतु क्या है। कुन्तक के मतानुसार शब्द वाचक है एवं अर्थ उसका वाच्य। शब्द और अर्थ की मिलित सत्ता से ही काव्य की उत्पत्ति होती है। कवि-कौशल-कल्पित कमनीय शब्द-मात्र को काव्य मानने वाले अथवा केवल चमत्कारपूर्ण अर्थ को काव्य की संज्ञा देने वाले, दोनों ही भ्रान्त हैं। शब्दार्थ के सम्मिलन में ही आनन्द-बीज का वपन होता है। जो प्रतिभा के दारिद्र्य के कारण केवल शब्दच्छटा-माधुर्य की सृष्टि करते हैं, उनके काव्य में यथार्थ काव्य-श्री का प्रकाश नहीं मिलता और केवल अर्थ-चातुर्य में भी शुष्कता के कारण काव्यानन्द का आविर्भाव नहीं होता। उदाहरणार्थ मालतीमाधव के एक श्लोक को लीजिए—

असारं संसारं परिमुषितरत्नं त्रिभुवनं
निरालोकं लोकं मरणशरणं बान्धवजनं ।
अदर्पं कन्दर्पं जननयननिर्माणमफलं
जगज्जीर्णारण्यं कथमसि विधातुं व्यवसितः ॥

कोई कापालिक किसी सुन्दरी नायिका के वध करने पर उद्यत है। उसकी इस हरकत को देख कर नायिका के असाधारण लावण्य का वर्णन करते हुए किसी की उक्ति है— नायिका के वध होने पर संसार असार हो जायगा— किन्तु इतना कहने से ही वेदना का पूर्ण प्रस्फुटन नहीं हुआ, इसलिए आगे फिर कहा गया— त्रिभुवन का एक रत्न छिन जायगा, लोक आलोक रहित हो जायगा, बान्धव जन भी उसके अभाव में मृत्यु की शरण लेंगे, कन्दर्प का दर्प चूर हो जायगा, चक्षु-निर्माण की प्रयोजनीयता ही अब क्या रह जायगी, जगत् जीर्ण अरण्यमात्र रह जायगा ! कापालिक ! तुम यह क्या करने चले हो ?

यहाँ पर यदि केवल इतना ही कह दिया जाता कि नायिका की मृत्यु होने पर संसार असार हो जायगा अथवा बान्धवगण चित्तारोहण करेंगे तब इसमें इतना चमत्कार न आता। यहाँ अनेक रमणीय भावों ने मिल कर एक सापेक्ष महाभाव की सृष्टि में योग दिया है। एक भाव के बाद यदि दूसरा भाव उठता हुआ यहाँ न दिखाया जाता एवं शब्द-योजना भी अनुरूप न होती तो काव्य में रमणीयता नहीं आ सकती थी। शब्द-चयन असुन्दर होने से अर्थ की चारुता भी जाती रहती है। वास्तव में शब्द और अर्थ के ऐक्य में ही काव्य का प्राण है 'वागर्थ्याविव संपृक्तौ'। रवि बाबू के शब्दों में 'कला का सच्चा सिद्धान्त ऐक्य का सिद्धान्त है'। वस्तु का हूबहू वर्णन तो विज्ञान का कार्य है और शैली अथवा रीति का संबन्ध रीति-ग्रन्थों से है। वस्तु और रीति के सुन्दर सम्मिलन में ही काव्य के व्यक्तित्व का प्रस्फुटन होता है।

स्वर्गीय प्रसादजी ने भी कविता को 'संकल्पात्मक अनुभूति' का नाम दिया है। "काव्य में जो आत्मा की मौलिक अनुभूति की प्रेरणा है वही सौंदर्यमयी और संकल्पात्मक होने के कारण अपनी श्रेयस्थिति में रमणीय आकार में प्रकट होती है। वह आकार वर्णात्मक रचना-विन्यास में कौशलपूर्ण होने के कारण प्रेय भी होता है। रूप के आवरण में जो वस्तु सन्निहित है वही तो प्रधान होगी।" प्रसाद ने अभिव्यक्ति की अपेक्षा अनुभूति को ही प्रधानता दी है।

कुन्तक ने कहा है कि अर्थ समझ में न आने पर भी संगीत की तरह साधु-काव्य में शब्द-विन्यास द्वारा ही हृदय आनन्द से परिप्लुत हो जाता है। उसका अर्थ समझ लेने पर पानक-रस के आस्वादन की तरह शब्दार्थ से भिन्न एक ऐसा आस्वाद

निर्भरित हो उठता है जो काव्य-शरीर को अनुप्राणित करता रहता है। शब्दार्थ से भिन्न इस काव्यमयी रसधारा के बिना काव्य मृतप्राय रहता है। इस प्रतीयमान अर्थ के द्वारा एक प्रकार की सौभाग्य-सम्पद् व सौन्दर्य का जन्म होता है जो केवल सहृदय-संबेद्य है।

अपर्यालोचितेऽप्यर्थे बन्धसौन्दर्यसम्पदा
गीतवद् हृदयाह्लादं तद्विदां विदधाति यत् ।
वाच्यावबोधनिष्पत्तो पदवाक्यार्थवर्जितम्
यत्किमप्यर्पयत्यन्तः पानकास्वादवत् सताम् ।
शरीरं जीवितेन स्फुरितेनेव जीवितम्
विना निर्जीवतां येन वाक्यं याति विपश्चिताम् ।
यस्मात् किमपि सौभाग्यं तद्विदामेव गोचरम्
सरस्वती समभ्येति तदिदानीं विचार्यते ॥

उक्त पद्यों को पढ़ने से ऐसा लगता है कि ध्वनिकार और कुन्तक के मत में पूर्णतः साम्य है। आनन्दवर्द्धन के मत से कुन्तक का परिचय चाहे न रहा हो किन्तु काव्य में जो सौन्दर्योत्सास (Aesthetic exhilaration) होता है उसका परिज्ञान कुन्तक को भली भाँति था। उसने अनेक प्रकार की वक्रताओं का उल्लेख किया है, यथा वर्णविन्यासवक्रता, पदवक्रता, रूढ़िवक्रता, पर्यायवक्रता, उपचारवक्रता (जिसे प्रसादजी ने छायावाद की एक विशेषता मानी है), विशेषण-वक्रता, संवृतिवक्रता, प्रत्ययवक्रता, शब्दवक्रता, समास-वक्रता, भाववक्रता, क्रियावैचित्र्यवक्रता, कालवक्रता, कारक-वक्रता, पदवक्रता, प्रकरणवक्रता, वस्तुवक्रता आदि। नाना स्थानों से उपयुक्त उदाहरण देकर कुन्तक ने इन सभी वक्रताओं का सम्यक् स्पष्टाकरण किया है।

सौन्दर्योत्पादक उपकरणों के कुन्तक ने दो भेद किये हैं—
 (१) अन्तरंग (सौभाग्य), (२) बहिरंग (लावण्य) । इन्हें हम क्रमशः विषयी-प्रधान और विषय-प्रधान भी कह सकते हैं । प्रतिभा-व्यापार के फलस्वरूप जो एक प्रकार का चेतन चमत्कार या आह्लाद उत्पन्न होता है उसे सौभाग्य कहते हैं और बहिरङ्ग के सन्निवेश-विशेष से जो सौन्दर्य प्रादुर्भूत होता है उसे लावण्य कहते हैं ।

कुन्तक ने वामन की त्रिविध तथा दण्डी की द्विविध रीतियों का भी खण्डन किया है । उसका आक्षेप यह है कि देश-विशेष के नाम पर रीति का नामकरण करना उचित नहीं, क्योंकि काव्य-शैली देश-विशेष का एकाधिकार नहीं । कवि-स्वभाव-भेद से ही रीति की विभिन्नता हो सकती है । कुन्तक ने रीति को तीन भागों में विभाजित किया है— (१) सुकुमार, (२) विचित्र, (३) मध्यम । सुकुमार रीति की विशेषता यह है कि काव्य को विच्छिन्नशाली बनाने के लिए कवि को प्रयास नहीं करना पड़ता । विधिता की सृष्टि-चातुरी का जिस प्रकार विश्लेषण नहीं हो सकता, उसी तरह इस प्रकार के काव्य-शिल्पी की कला का भी विश्लेषण संभव नहीं । प्रकृत काव्य तो वास्तव में स्वयंप्रकाश ज्ञान (Intuitionnal experience) है; उसकी संकल्पात्मक अनुभूति में ही हृदय आह्लादित हो चमत्कृत हो उठता है । इस प्रकार की रचना में दीर्घ समासों का आडम्बर नहीं रहता, अर्थ अनायास हृदयङ्गम हो जाता है और हृदय आनन्द से आप्लावित हो उठता है । रचना की स्वाभाविक कोमलता हृदय को स्पर्श करती है । इस गुण को आभिजात्य कहते हैं । कुन्तक ने कालिदास की रचना को सुकुमार रीति में सम्मिलित

किया है। खड़ी बोली के सुप्रसिद्ध कवि पंतजी की गणना भी हम सुकुमार कवियों में ही करते हैं।

विचित्र रीति में लिखना अत्यन्त दुःसाध्य है। इस रीति की मुख्य विशेषता प्रतीयमान अर्थ है जो शब्द और अर्थ से एकान्त भिन्न होता है। कवि-कौशल के वैचित्र्य से ही इस रीति की रचना संभव है। राजशेखर ने काव्य मीमांसा में लिखा है कि संसार के कवि प्रति दिन सार-संग्रह करते जाते हैं तथापि आज तक प्रतिभाशाली कवियों के लिए भावप्रकाशन का कार्पण्य नहीं होने पाया। भाव-प्रकाश की इस विचित्र प्रणाली को ही कुन्तक ने विचित्र रीति का नाम दिया है। पुरातन वस्तु भी वर्णन की भंगिमा के कारण मनोहारी हो जाती है। बाणभट्ट, भवभूति, राजशेखर आदि की रचनाएँ विचित्र रीति की हैं। मातृगुप्त आदि कवियों की रचनाएँ मध्यम रीति की हैं जिसमें 'सुकुमार' और 'विचित्र' का समावेश होता है।

कुन्तक के विचारानुसार उत्तम काव्य में दो गुणों का होना अत्यावश्यक है—(१) औचित्य और (२) सौभाग्य। देश, काल, वक्ता, श्रोता प्रभृति के अनुरूप विषय-वस्तु का वर्णन ही औचित्य कहलाता है। कवि-प्रतिभा, शब्द-सामर्थ्य, अर्थ-सामर्थ्य, वक्रता आदि के द्वारा जो काव्य चित्त को चमत्कृत कर देने की क्षमता रखता है, वह 'सौभाग्य गुण' से समन्वित होता है।

अलंकार के सम्बन्ध में कुन्तक ने कहा है कि वक्रता से अन्वित होने पर ही अलंकार का अलंकारत्व है, अन्यथा नहीं। कुन्तक के इस मत को मुख्यक आदि परवर्ती आलंकारिकों ने भी स्वीकार किया है।

रस को भी कुन्तक ने अस्वीकृत नहीं किया है। वक्रता का ही प्रकार-भेद मान कर वक्रोक्ति-जीवित के चतुर्थ उन्मेष में उसने लिखा है—

निरन्तर रसोद्गार-गर्भ-सौन्दर्य-निर्भराः

गिरं कवीनां जीवन्ति न कथामात्रमाश्रिताः ।

अर्थात् केवल कथा के आश्रय मात्र से काव्य की उत्पत्ति नहीं हो सकती। रसभार के कारण सौन्दर्यमय होने से ही काव्य की उत्पत्ति होती है। कुन्तक ने आनन्दवर्द्धन की तरह ध्वनि को ही काव्य का प्राण नहीं माना; उसके मत में ध्वनि प्रधान नहीं, प्रधान है वक्रोक्ति; ध्वनि उसके अङ्गभूत है। कुन्तक ने अपने काव्यालोचन में आधुनिक साहित्य-विचार-पद्धति का आभास दिया है। इसलिए उसके वक्रोक्ति-जीवित का विशेष महत्त्व है।

गुञ्जन-गारिमा*

पृष्ठ-भूमि

आधुनिक काल में खड़ी बोली की तीन काव्य-धाराएँ स्पष्ट दिखलायी पड़ रही हैं। एक तो वह जो द्विवेदी स्कूल की इतिवृत्तात्मक शैली से सम्बन्ध रखती है और जो श्री मैथिलीशरण गुप्त तथा श्री गोपालशरण सिंह जैसे कवियों के हाथों में पड़ कर क्रमशः प्रौढ़ और परिवर्द्धित होती जा रही है। द्विवेदी स्कूल की काव्य-शैली अब निरी इतिवृत्तात्मक ही नहीं रह गयी किन्तु उसमें अभिव्यञ्जना-कौशल का भी सम्यक् प्रयोग होने लगा है। 'साकेत' के नवम सर्ग को पढ़ कर जिसमें अभिव्यञ्जना-कौशल और उक्ति-वैचित्र्य प्रचुर परिमाण में पाया जाता है, कोई भी इस परिणाम पर पहुँचे बिना नहीं रहेगा। दूसरी काव्य-धारा वह है जो छायावाद-स्कूल की अभिव्यञ्जना-प्रधान शैली को लिये हुए है। द्विवेदी स्कूल की इतिवृत्तात्मक कविताओं की प्रतिक्रिया-स्वरूप ही छायावाद स्कूल का जन्म हुआ। जब द्विवेदी जी की प्रेरणा एवं प्रोत्साहन से खड़ी बोली में काव्य-रचना होने लगी तो स्वभावतः ही उसमें इतिवृत्तात्मकता का प्राधान्य रहा। उस समय तो खड़ी बोली के पद्यों में कविता का ढल सकना ही एक दुष्कर-सी कल्पना समझी जाती थी। किसी भाषा के प्रारम्भिक काल में अभिव्यञ्जना कौशल की आशा भी नहीं की जा सकती किन्तु समय पाकर द्विवेदी स्कूल की वस्तुतः आत्मक कविताओं से लोग ऊबने-से लग गये। इतिवृत्तात्मक

* लेखक की अप्रकाशित 'गुञ्जन-गारिमा' से संकलित।

कविताएँ अब उनको नीरस प्रतीत होने लगीं। हृदय अपनी अभिव्यक्ति के लिये रो उठा। अब ऐसी कविताएँ की जाने लगीं जिनमें लाक्षणिक मूर्तिमत्ता, उन्मुक्त भावोन्मेष, उक्ति-वैचित्र्य तथा अप्रस्तुत योजना का रमणीय विधान पाया जाता था। सन् १९१३ में गीतांजलि पर नोबेल पुरस्कार मिलने पर विश्व-साहित्य का ध्यान उस की ओर आकृष्ट हुआ। प्रसाद जी तथा बङ्ग-भाषा की नूतन शैली से प्रभावित हिन्दी के अन्य कवियों ने हिन्दी की काव्य-धारा को नवीन साँचे में ढालने का प्रशंसनीय प्रयत्न किया। जैसा स्वाभाविक था, छायावाद स्कूल की कविताओं का कुछ समय तो विरोध चलता रहा। 'कुत्ते को गोली मारने के लिये जैसे उसे पागल कह देना काफ़ी होता है उसी तरह किसी कविता को असाधु एवं अस्पष्ट कहने के लिए उसे छायावादी कह देना पर्याप्त समझा जाने लगा।' किन्तु श्री सुमित्रानन्दन पंत और श्री निराला आदि ने सब प्रकार के विरोध को सहन करते हुए अपने काव्य का प्रवाह अप्रतिहत बनाये रखा। श्री रवीन्द्र के प्रभाव से गीतांजलि के अनुकरण पर आध्यात्मिक रंग में रँगी हुई रहस्यवाद से सम्बन्ध रखने वाली कविताएँ भी होने लगीं। सच तो यह है कि युग-धर्म के प्रवाह को कोई रोक नहीं सकता। सरिता के उन्मुक्त प्रवाह की भाँति उसकी गति अविच्छिन्न रहती है। इसीलिए गुप्तजी जैसे कवि भी समयानुकूल अपनी काव्य-धारा का प्रवाह मोड़ते रहे।

छायावाद स्कूल की विच्छित्तिमयी शैली का सूत्रपात करने वाले चाहे 'प्रसाद' भले ही रहे हों किन्तु इसमें सन्देह नहीं कि द्विवेदी-स्कूल के सब से अधिक लोकप्रिय कवि जिस प्रकार मैथिलीशरण गुप्त हुए, उसी प्रकार छायावाद-स्कूल के कवियों में श्री सुमित्रानन्दन पंत। खड़ी बोली का बहुत

कुछ परिष्कार तो गुप्तजी जैसे कवियों द्वारा हो चुका था किन्तु उसमें उस मधुरता का समावेश न होने पाया था जो ब्रजभाषा तथा बँगला जैसी भाषाओं की विशेषता है। सुमधुर गुञ्जन करने वाले इस पार्वतीय कवि ने अपने प्राणों का मधु उड़ेल कर खड़ी बोली को मधुमय कर दिया; उसमें रमणीय सहज सुषमा भर दी; खड़ी बोली की तथा-कथित कर्कशता तथा खड़खड़ाहट जाती रही। किसी को अब यह कहने का दुःसाहस न रह गया कि खड़ी बोली माधुर्य के अभाव के कारण काव्य-भाषा के अनुपयुक्त है। सौन्दर्योपासक इस शब्द-शिल्पी ने लघु-लघु अक्षरों की आवृत्ति द्वारा खड़ी बोली का जो सहज सरल शृंगार किया है, वह इस कोमल कान्त कवि के सर्वथा अनुरूप है। खड़ी बोली में माधुर्य का समावेश पन्तजी की हिन्दी काव्य-जगत् को सब से बड़ी देन है और यही उनकी सब से बड़ी मौलिकता भी है। “बना मधुर मेरा भाषण ! वंशी से ही करदे मेरे सरल प्राण औ’ सरस वचन” कवि की यह प्रार्थना पूर्णतः फलवती हुई है। निरालाजी के शब्दों में “जब से खड़ी बोली का प्रचार हुआ तब से स्वाभाविक कवि का अभाव ही था। जो पौधा लगाया गया था उसे कुसुमित करने के लिए अब तक के कवियों को श्रेय जरूर दिया जा सकता है; परन्तु वे उस पौधे के मालिक ही हैं, कुसुम नहीं। किसी पौधे में फूल एकाएक नहीं लग जाते, वे समय होने पर ही आते हैं। खड़ी बोली की जिस कविता का प्रचार बड़े यत्न से किया गया था, जिसके प्रचारकों को कितनी ही गालियाँ खानी पड़ी थीं; उसका स्वाभाविक कवि अब इतने दिनों बाद आया है और हिन्दी का वह गौरव-कुसुम श्री सुमित्रानन्दन पंत है।” नवोदित कवियों

ने जितना अधिक अनुकरण पंतजी का किया है और करते जा रहे हैं, उतना और किसी का नहीं ।

हमारे साहित्य में दो दशाब्दियों (सन् १९००—१९२०) तक द्विवेदी-युग के काव्य का प्राधान्य रहा । सन् १९१६ में द्विवेदी जी ने 'सरस्वती' के सम्पादन से अवकाश ग्रहण किया । सन् १९२० से करीब १९४० तक छायावाद की धूमधाम रही । इसके बाद समाजवाद के सिद्धान्तों का काव्य के क्षेत्र में प्रयोग किया जा रहा है और खड़ी बोली के काव्य-साहित्य की यही तीसरी धारा है प्रगतिवाद, जिसके प्रवर्तकों में भी पंतजी का नाम सबसे अधिक महत्वपूर्ण है और सच्चे अर्थ में वे ही आज प्रगतिवाद का भी प्रतिनिधित्व कर रहे हैं । किन्तु विषयान्तर के भय से प्रगतिवाद का विवेचन यहाँ अभीष्ट नहीं । हाँ, यह अवश्य है कि 'गुंजन' में पलायनवादी प्रवृत्ति के विरुद्ध जगह-जगह विद्रोह का स्वर सुनाई पड़ता है और कहीं-कहीं प्रगतिवाद के बीज भी बिखरे मिलते हैं । निम्नलिखित पद्य में जहाँ सम्पत्ति के असम विभाजन की ओर संकेत किया गया है युग-धर्म का प्रभाव स्पष्टतः परिलक्षित होता है :—

जग पीड़ित है अति-दुख से,
जग पीड़ित रे अति-सुख से,
मानव जग में बँट जावें,
दुख सुख से औ' सुख दुख से ।

वास्तव में देखा जाय तो किसी भी स्वतंत्रचेता कवि को किसी एक वाद से सम्बद्ध नहीं किया जा सकता । ऊपर की पंक्तियों में कवियों को वाद-विशेष से सम्बद्ध करने का जो प्रयत्न किया गया है वह केवल विवेचन की सुविधा के लिए ।

पन्तजी की काव्य-धारा अनुकरण गति से प्रवाहित रही है। हाँ, यह अवश्य है कि जैसे जैसे उनके विचारों में प्रौढ़ता आती गयी, वैसे वैसे उनकी काव्य-धारा का प्रवाह भी दूसरी ओर परिवर्तित होता गया। 'वीणा' में जिस कवि ने हिन्दी-साहित्य के उपवन में अपने स्वर्ण-नोड़ की अथवा साहित्य-जगत् के विस्तृत हौस्टल में अपने स्वतन्त्र व्यक्तित्व के एक छोटे-से रूम की घोषणा की थी, 'ग्रन्थि' में उसी ने वियोगात्मक प्रणय-उपाख्यान द्वारा कारुण्य की धारा बहा कर सबको रस-मग्न कर दिया। 'पल्लव' में तो वह और भी प्रस्फुटित प्रतिभा लेकर हिन्दी साहित्य संसार के समस्त उपस्थित हुआ। 'पल्लव' की 'परिवर्तन' जैसी कविताओं ने उसके व्यक्तित्व को बहुत कुछ विस्तृत कर दिया; हम उसे एक महाकवि के रूप में पहचानने लगे। पन्तजी की यह कविता "किसी भी बड़े कवि की कृति से निःसंकोच मैत्री कर सकने वाली" समझी गयी। किन्तु 'गुञ्जन' का कवि 'वीणा', 'ग्रन्थि' और 'पल्लव' का कवि न रह गया। प्रकृति की गोद में पले हुए इस कवि ने अब जीवन की समस्याओं पर भी गम्भीर विचार करना प्रारम्भ कर दिया; 'गुञ्जन' में उसकी वाणी के स्वर बदल गये। 'पल्लव' का कवि इस जगत् से उस पार किसी कल्पित लोक में सुख के स्वप्न देख रहा था; संसार को अधिकांश में दुःखमय ही मान बैठा था—

यहाँ सुख सरसों, शोक सुमेरु,
 अरे, जग है जग का कंकाल !
 वृथा रे, ये अरण्य - चीत्कार,
 शान्ति सुख है उस पार ।

*

*

*

मिलन के पल केवल दो चार
विरह के कल्प अपार !

किन्तु 'गुञ्जन' का कवि 'उस पार' के स्वप्न नहीं देखता,
उसको यही संसार स्वर्ग-तुल्य जान पड़ने लगा है और वह
इसकी प्रत्येक वस्तु से प्रेम करना सीख गया है ।

प्रिय मुझे विश्व यह सचराचर,
तृण, तरु, पशु, पक्षी, नर, सुरवर,
सुन्दर अनादि शुभ सृष्टि अमर ।

श्री नगेन्द्रजी के अनुसार गुञ्जन की दो विशेषताएँ हैं—
(१) जीवन के प्रति एक नवीन हर्षपूर्ण दृष्टिकोण और
(२) कवि पर दार्शनिक प्रभाव । पल्लव का अलहड़ कवि
गुञ्जन में एक साथ बड़ा संयत और गम्भीर हो गया है । इसी
कारण उसमें आवेश की न्यूनता और चिन्तन एवं मनन का
प्राधान्य है । गुञ्जन में प्रायः सन् १६२६ से ३२ तक की
कविताएँ संगृहीत हैं । कठिन रोग से मुक्ति पाकर कवि का
जीवन के प्रति दृष्टिकोण एक नवीन आशा में परिणत हो
गया; मानों अब उसे जीवन के मधु का पता लग गया है ।
गुञ्जन में उस समय के पन्त की मानसिक प्रतिच्छवि का
दर्शन किया जा सकता है ।

रे गूँज उठा मधुवन में
नव गुञ्जन अभिनव गुञ्जन

दूरस्थ अल्मोड़े के 'विजन वन के विहग-कुमार' कविवर
पन्त के गीतों का आज उर-उर और घर-घर आदर हो रहा
है । आज हिन्दी का यह जीर्ण-शीर्ण विषरण उद्यान मधुर-
मुखरित हो उठा है । 'वीणा' के जिस कवि ने विहग-बाला
को सम्बोधित करके कहा था —

कल-कण्ठिनि ! निज कलरव में भर,
अपने कवि के गीत मनोहर
फैला आओ बन-बन घन-घर
नाचें तृण, तरु, पात !

वही 'गुञ्जन' में उल्लसित होकर कह उठता है —

विजन-बन के ओ विहग-कुमार !
आज घर-घर रे तेरे गान;
मधुर मुखरित हो उठा अपार
जीर्ण-जग का विषरण उद्यान !

इस अनुपम सौन्दर्योपासक कलाकार ने जिस प्रकार अपने शरीर को सजाया सँवारा है, जिस प्रकार इसका 'गौर वर्ण, मांसल-सा शरीर, घुँघराले रेशमी बाल और गंभीर संयत आकृति' सब के आकर्षण की वस्तु है, उसी प्रकार इसने हिन्दी के कँटीले उद्यान के पौधों को काट-छाँट कर अपनी कलात्मक सुरुचि का परिचय दिया है। मधुर एवं सुकुमार भावों की जैसी व्यंजना प्रकृति के इस लाड़ले कवि द्वारा हुई है, वैसी हिन्दी साहित्य में अन्यत्र मिलना दुर्लभ है। 'सिखा दो ना हे मधुप कुमारि ! मुझे भी अपना मीठा गान' मानो कवि की इस मनुहार-भरी प्रार्थना को मधुप-कुमारी ने सुन लिया है और अब गुञ्जन के कवि के गीत चोंटियों की काली पाँति की तरह अग-जग के छोर छूने के लिए बहु भाँति फैलते जा रहे हैं।

चोंटियों की-सी काली पाँति
गीत मेरे चल-फिर निशि-भोर,
फैलते जाते हैं बहु भाँति
बन्धु ! छूने अग-जग के छोर।

विचार-धारा

मुक्ति बनाम बन्धन

कुछ दार्शनिकों की दृष्टि में वैराग्य-साधन द्वारा वासनाओं का क्षय होने पर ही मुक्ति प्राप्त हो सकती है। संसार के प्रलोभनों से सर्वथा दूर रहने के लिए ही साधक, तपस्वी और योगी इसी मुक्ति के लिए तपोवनों का आश्रय लिया करते हैं। इच्छाओं के समूल नाश होने पर संसार के आवागमन के बन्धन से छूट जाना ही वे जीवन का चरम लक्ष्य समझते हैं। किन्तु काव्य में इस प्रकार की मुक्ति का क्या स्थान हो सकता है, यह एक विचारणीय प्रश्न है। सामाजिक प्राणी होने के कारण मनुष्य के लिए यह आवश्यक है कि उसकी शक्ति का बहुतांश सामाजिक प्रवाह को सुचारु रूप से बनाये रखने में सहायक हो। मनुष्य को रागात्मिका वृत्ति के प्रसार और क्रीड़ा-क्षेत्र के लिए संसार के हर्ष-विमर्शों में योग देना आवश्यक ही नहीं किन्तु वांछनीय भी है। कवियों ने भी उन्हीं मनुष्यों के जीवन से अपने काव्य के लिए उपादान ग्रहण किये हैं जो संसार के घात-प्रतिघात सहते हुए अपने कर्तव्य-पथ पर अग्रसर हुए हैं। गोस्वामी तुलसीदास को जहाँ रामचरित के कारण जीवन की सर्वाङ्गीणता के प्रदर्शन का क्षेत्र मिल सका, वहाँ कृष्ण-चरित्र को लेकर सूरदास जैसे भावुक भक्तों ने भी सहृदय-संबन्ध रचनाएँ प्रस्तुत कीं। रागात्मिका वृत्ति के सम्यक् विस्तार के लिए संसार से तटस्थ रहने से निर्वाह नहीं हो सकता। विश्व के साथ तादात्म्य स्थापित करने पर ही मनुष्य अपने संकुचित अहं की परिधि को विस्तृत कर

सकता है और तभी उसे सच्चे सुख और वास्तविक ज्ञान की उपलब्धि हो सकती है। यदि मनुष्य अपने लिए ऐसे संसार का निर्माण कर ले जहाँ 'स्व' ही उसके विचार का विषय हो तो इससे अधिक भयङ्कर कारा की कल्पना भी नहीं की जा सकती क्योंकि वास्तव में आत्मा की परिधि को विस्तृत कर जग में अपनापन स्थापित करने से ही पूर्ण सुख की प्राप्ति हो सकती है। "यो वै भूमा तत् सुखम् । नाल्पे सुखमस्ति ।" इसीलिए रवीन्द्रनाथ जैसे कवियों ने उस मुक्ति के प्रति एक प्रकार की उदासीनता प्रकट की है जिसमें एकान्तवास-जन्य, जीवन से निरपेक्ष वैराग्य-साधन के उपदेश का आग्रह है। रवि बाबू ने 'नैवेद्य' में बन्धन और मुक्ति पर अपने विचार प्रकट करते हुए लिखा है :—

“वैराग्य-साधने मुक्ति से आमार नय
असंख्य बन्धन मांके महानन्दमय
लभिव मुक्तिर स्वाद ।

एइ वसुधार

मुक्तिकार पात्र खानि भरि बारम्बार
तोमार अमृत ढालि दिबे अविरत
नानावर्णगन्धमय ।”

अर्थात् वैराग्य साधन में जो मुक्ति है, हम उसे नहीं चाहते; हमारा उससे कोई प्रयोजन नहीं है। हम असंख्य बन्धनों में रह कर महा आनन्दमय मुक्ति का स्वाद लेंगे। इस पृथ्वी की मिट्टी के पात्र को बारम्बार भर कर हमारी यह आनन्दमय मधुर मुक्ति तुम्हारे नानावर्ण और गन्ध को अविरत ढाला करेगी।

निरालाजी के मतानुसार “ऐसे बन्धन और ऐसी मुक्ति के आचार्य श्रीरवीन्द्रनाथ हैं। ‘वैराग्य-साधने मुक्ति से आमार नय’ उनके इस काव्य-दर्शन का प्रसिद्ध वाक्य है। इस भाव पर उनके अनेक पद्य हैं। इसके अनेक रूप उन्होंने खींचे हैं। यह रवीन्द्रनाथ के दर्शन के नाम से प्रसिद्ध है। यह विशिष्टाद्वैत का सुन्दर काव्य-रूप रवीन्द्रनाथ द्वारा तैयार हुआ मालूम देता है। इसके प्रकाशन में रवीन्द्र की प्रतिभा और शब्द-शक्ति जो काम करती है, वह तारीफ़ से बाहर है।”

रवीन्द्रनाथ की उक्त विचार-धारा से हिन्दी के बहुत से कवि प्रभावित हुए हैं। श्रीमैथिलीशरणगुप्त ‘यशोधरा’ में रवीन्द्र के स्वर में स्वर मिलाते हुए-से कहते हैं :—

“भव भावे मुझको और उसे मैं भाऊँ
कह मुक्ति, भला मैं तुझे किस लिए पाऊँ ?”

श्री गोपालशरणसिंह ने भी एक स्थान पर इसी भाव-सरणी का आश्रय लेते हुए लिखा है :—

“जग की सेवा करना ही बस,
है सब सारों का भी सार
विश्व-प्रेम के बन्धन में ही
मुझको मिला मुक्ति का द्वार।”

किन्तु रवीन्द्र की इस मुक्ति-भावना को अपनाने वालों में शायद सबसे प्रमुख हैं सुमधुर गुञ्जन करने वाले कोमल कान्त कवि श्रीसुमित्रानन्दन पन्त। वे अपने मन को प्रति पल विश्व-वेदना में तपने, जग-जीवन की उवाला में गलने एवं जग में अपनापन स्थापित करने का आदेश देते हैं। वे उस मुक्ति को बंधन समझते हैं जो एकान्तवास की वैराग्य-साधना का

परिणाम है, अथवा बन्धनों में ही बे मधुर मुक्ति का अनुभव करते हैं ।

“तेरी मधुर-मुक्ति ही बन्धन,
गन्ध-हीन तू गन्ध-युक्त बन,
निज अरूप में भर स्वरूप, मन !
मूर्तिवान बन, निर्धन !
गल रे गल निष्ठुर-मन !”

‘ज्योत्स्ना’ में भी पंतजी ने इसी प्रकार के विचारों को व्यक्त किया है—

“अविराम प्रेम की बाँहों में
है मुक्ति यही जीवन-बन्धन !”

उनके अनुसार “निष्क्रिय ज्ञान द्वारा आत्मा और व्यक्ति को प्रकृति के बन्धनों से मुक्त करने के बदले सक्रिय ज्ञान के सदुपयोग से मानवात्मा के प्राकृतिक सत्त्यों के बन्धनों को सुध्य-वस्थित, सार्वलौकिक स्वरूप देकर मनुष्य-जीवन की सामूहिक मुक्ति के लिए उद्योग करना कहीं श्रेयस्कर है ।”

“मत हो विरक्त जीवन से
अनुरक्त न हो जीवन पर,
जग परिधि मात्र जीवन की,
स्थित केन्द्र अमर उर भीतर !” (ज्योत्स्ना)

श्रीमती महादेवी वर्मा के शब्दों में “विश्व-जीवन में अपने जीवन को, विश्व-वेदना में अपनी बेदना को, इस प्रकार मिला देना जिस प्रकार एक जल-बिन्दु समुद्र में मिल जाता है, कवि का मोक्ष है ।”

हिन्दू दर्शन शास्त्रों पर बहुधा यह आरोप किया जाता है कि वैराग्य-साधना-जन्य मुक्ति का उपदेश देकर, संसार को मायाजाल बतलाकर उन्होंने भारतीयों को अकर्मण्य बना दिया। संसार के बंधनों में भी परमात्मा की सत्ता का अनुभव करना, निष्काम कर्मयोग की भावना रखना— इस तत्त्वज्ञान की अपेक्षा के कारण ही हिन्दू सभ्यता पंगु हो गई और परिणाम स्वरूप वह संसार के विकासोन्मुख एवं प्रगतिशील देशों के साथ दौड़ में पिछड़ गई। संभवतः इसीलिए लोकमान्य तिलक को 'गीता-रहस्य' में कर्मयोग का विशद विवेचन करना पड़ा। इसी बात को स्पष्ट करते हुए श्रीरवीन्द्रनाथ ने भी अपने 'साधना' नामक ग्रन्थ में लिखा है :—

“मुझे अपने श्रोताओं को अच्छी तरह जतला देना चाहिए कि भारत के ऋषियों ने यह उपदेश नहीं दिया कि संसार और अहं का त्याग किया जाय, इसका फल तो काली निषेधात्मक शून्यता है। उनका उद्देश्य अहं का त्याग नहीं, किन्तु अहं की संकीर्ण परिधि का विस्तार और आत्म-तत्त्व का ज्ञान था अर्थात् दूसरे शब्दों में विश्व के पूर्ण सत्य-रूप की पहिचान थी। संसार और व्यक्ति का अस्तित्व भुला देने से तो केवल शून्यता रह जाती है, संसार और अहं में आसक्ति और अभिमान को मिटाना चाहिए।”

‘ब्रह्म’ शीर्षक कहानी में इसी तरह के विचार पंतजी ने व्यक्त किये हैं :—

“अनेक प्रकार के त्याग-विराग, साधना-संयम, जप-तप, नीति-रीतियों के, नियम-बन्धनों के सहारे हम जिस सत्य को ग्रहण करने का असम्भव, निष्फल प्रयत्न करते आये हैं, वही अज्ञेय, अग्रहणीय सत्य जैसे अनन्त अनुराग, आनन्द, सुख,

सौन्दर्य, लीला, नृत्य, आशा, आकांक्षा, रूप रंगों द्वारा अपने को सृष्टि के चिरन्तन बंधनों में बाँध रहा है। आत्मा अपने को रूप के लिए फिर फिर बलिदान कर रही है। हमारे दर्शनों ने सत्य के जिस महाभाव का हमें बोध कराया है, हम ने उसे न समझ सकने के कारण उस महाभाव को अभाव और शून्य में घटित कर दिया है। ज्ञान का निष्क्रिय प्रयोग कर हमने निःसीम को ससीम से, भाव को रूप से विच्छिन्न कर उन्हें भिन्न मान लिया है। ज्ञान के सक्रिय प्रयोग द्वारा हम उस महाभाव का नाम-रूप में, निःसीम का ससीम में साक्षात् नहीं कर पाये हैं।”

विश्व की वेदना में तपते हुए, जग-जीवन की ज्वाला में अपने मन को गला कर आज जो मुक्ति के लिए प्रयत्नशील हैं, ऐसे कर्मठ तपस्वियों में महात्मा गाँधी का नाम अग्रगण्य है। संसार में रह कर ही, संसार की प्रयोगशाला में ही वे सत्य के प्रयोग कर रहे हैं। गाँधी-दर्शन की सबसे बड़ी विशेषता भी यही है कि इसके अनुसार जीवन के सुख-दुःखात्मक बंधनों में बँध कर भी अनासक्तियोग की साधना की जा सकती है। सुख-दुःख की अपेक्षा जीवन महत्त्वपूर्ण है, इस जीवन से दूर भागने की आवश्यकता नहीं। ‘नाहं कामये राज्यं, न स्वर्गं नापुनर्भवं, कामये दुःखतप्तानां प्राणिनामार्तिनाशनम्’ संस्कृत के इस प्रसिद्ध श्लोक में भी दुःख-तप्त प्राणियों के आर्ति-नाश के सम्मुख मुक्ति को नगण्य ठहराया गया है।

आजकल वास्तव में ऐसी मुक्ति का उपदेश देने की आवश्यकता नहीं जो संसार और जीवन के प्रति विरक्ति पैदा करती है। आज ऐसे कवियों की आवश्यकता है जिनकी कविता पढ़कर हमें विश्व-वेदना में तपने के लिये अन्तःस्फूर्ति प्राप्त हो और हम जीवन की लहर-लहर से हँस-हँस कर

खेलना सीख सकें। नैष्कर्म्य और जीवन के प्रति उपेक्षा का पाठ पढ़ाने वाली मुक्ति वास्तव में मुक्ति है ही नहीं। और फिर यदि वस्तुतः देखा जाय तो हम कौनसे बन्धनों से छुटकारा पाना चाहते हैं? जगन्नियन्ता ने स्वयं अपने आप को सृष्टि के बन्धनों में बाँध रखा है। वह हम सबके साथ सदा के लिए बाँधा है। दूसरों द्वारा लादे हुए बन्धन भारस्वरूप हो सकते हैं किन्तु स्वेच्छा पूर्वक आरोपित किये हुए बन्धन वास्तव में बन्धन हैं ही नहीं।

वर्तमान युग बन्धनों से भागता नहीं है वरन् बन्धन को ही अपने कर्म का और विकास का साधन समझता है। रवीन्द्र बाबू के “वैराग्य साधने मुक्ति से आमार नय” में जो आदर्श है, वह वर्तमान युग के विचारों की प्रतिध्वनि है। पंतजी के विचारों में भी इस युग-वाणी की झंकार है। ‘गुञ्जन’ के पहले ही गीत में पलायनवादी प्रवृत्ति के विरुद्ध विद्रोह का स्वर सुनाई पड़ता है। पलायनवाद और ‘उस पार’ यदि छायावाद की प्रमुख विशेषता है तो कम से कम ऐसा छायावाद गुञ्जन में नहीं है। गुञ्जन को एकान्त छायावादी रचना कहने वाले समीक्षकों को पंतजी की विचार-धारा का मनन करना चाहिए। किन्तु पंतजी अपने प्रकृत जीवन और विचार-धारा में सामञ्जस्य स्थापित कर सके हैं या नहीं, यह अलग बात है। कुछ समीक्षकों के अनुसार पंतजी की हार्दिक वृत्ति पलायन-वृत्ति ही है, मानव-जग के क्रन्दन से छुटकारा पाने को ही उनका जी छुटपटाता रहता है। विहगकुमार की तरह कल्पना के उन्मुक्त पंख फैलाकर व्योम-विहारी बने रहने में ही उनको सुख मिलता है। सामाजिक संघर्ष में उन की पैठ नहीं है; युग-धर्म की बौद्धिक प्रतिक्रिया के कारण ही वे जीवन-संघर्ष की पैरवी करते हैं।

साधना का महत्व

यदि कोई ऐसा व्यक्ति हो जो अपने साध्य पर पहुँच चुका हो, जहाँ जीवन की विषम समस्याओं के साथ संघर्ष करने के लिये कोई प्रेरणा अर्वाशिष्ट न रह गयी हो, वहाँ जीवन बहुत ही नीरस हो जायगा। यदि हम ज्ञान के उच्चतम शिखर पर पहुँच चुके हों तो फिर हम न किसी प्रकार के विचार-विमर्शों में लगेंगे, न किसी प्रकार के अन्वेषण अथवा अनुसन्धान में ही प्रवृत्त होंगे। विज्ञान का अन्त हो जाएगा; समस्त सृष्टि ही एक कहानी की आवृत्ति मात्र के अतिरिक्त और कुछ न रहेगी। धर्म और कला जिनके प्रयोगात्मक अनुभवों से हमें आनन्द की उपलब्धि होती है, अब अर्थहीन व्यापार मात्र रह जायेंगे। प्रयत्न और प्राप्ति की आशा में जितना आनन्द प्राप्त होता है उतना उस वस्तु के मिल जाने पर नहीं। इसीलिये पंतजी लहरों के मुख से कहलवाते हैं—

‘उठ उठ लहरें कहतीं यह, हम कूल विलोक न पावें,
पर इस उमंग में बह-बह नित आगे बढ़ती जावें।’

मर्यादावाद

जीवन का शाश्वत रूप स्वाभाविक रीति से बहती हुई सरिता के तुल्य है। यदि अपने तटों की सीमा का उल्लङ्घन कर कोई नदी बाढ़ द्वारा समुद्र बन जाना चाहे तो यह प्रयत्न कितना उपहासास्पद होगा। इसी प्रकार मनुष्य यदि उच्छृङ्खलता का आश्रय ले तो जीवन की नदी में बाढ़ आने के साथ साथ सामाजिक जीवन पर भी उसकी प्रतिक्रिया हुए बिना नहीं रहेगी, किन्तु इस मर्यादाशीलता का यह अर्थ नहीं है कि मनुष्य परतन्त्र बना रहे; स्वतन्त्रता को अपनाने वाला व्यक्ति भी मर्यादा की रक्षा के लिए अपने लिए बन्धन मनोनीत कर लेता है और स्वेच्छापूर्वक आरोपित किये हुए बन्धन वास्तव में बन्धन हैं ही नहीं। इसीलिए मर्यादाशीलता का समर्थन करते हुए पंतजी कहते हैं —

बह जाता बहने का सुख लहरों का कल रव नर्तन,
बढ़ने की अति इच्छा में जाता जीवन से जीवन।

उक्त पंक्तियों को पढ़ कर हमें अभिज्ञान शाकुन्तल के निम्न लिखित श्लोक का स्मरण हो आता है —

व्यपदेशमाविलयितुं किमीहसे जनमिमं च पातयितुम् ।
कूलंकषेव सिन्धुः प्रसन्नमम्भस्तटतरुं च ॥

‘गुञ्जन’ - एक जीवन-काव्य

यदि गुंजन के आधारभूत दार्शनिक सिद्धान्त को एक शब्द में प्रकट करना हो तो उसे जीवन-काव्य कहना ही सर्वथा उपयुक्त होगा। गुंजन के कवि का संदेश जीवन का संदेश है। पंतजी के मतानुसार “जीवन के सम्यक् ज्ञान से ही जीवन का सम्यक् उपभोग हो सकता है। समस्त विरोधों के भीतर जीवन की अविच्छिन्न एकता खोज कर उस पर हृदय केन्द्रित कर लेना होता है। तब मनुष्य जीवन के उस चरम सूत्र को ग्रहण कर लेता है जिसके छोरों में बँधे सुख-दुःख, जन्म-मरण आदि तुला के पलड़ों की तरह उठते-गिरते रहते हैं।” किन्तु जीवन-रहस्य के इस समूचे रूप को भली भाँति हृदयङ्गम करना कोई सरल काम नहीं है। जीवन के अंतस्तल में प्रवेश करने से ही जीवन का रहस्य समझ में आ सकता है। सुख-दुःख तो जीवन-सागर की सतह पर उठती हुई लहरों के समान हैं, सुख-दुःख जन्म-मरण आदि द्वन्द्वों की चिन्ता न कर जीवन-रहस्य को समझने का ही प्रयत्न करना चाहिए। मनुष्य उस नाविक के समान है जिसने तरङ्गाकुल समुद्र में अपनी नाव खोल दी है। जीवन-सिन्धु में ज्वार उठते हैं तो उठते रहें, बेहमें विचलित क्यों करें ? मनुष्य जीवन की लहर-लहर से हँस कर खेल रचाने का अभ्यासी बने। लहर चाहे सुख की हो अथवा दुःख की। कवि के शब्दों में :—

जीवन की लहर-लहर से
हँस खेल-खेल रे नाविक !
जीवन के अन्तस्तल में
नित बूढ़-बूढ़ रे भाविक !

जग का सुख-दुःख अस्थिर है, जीवन ही नित्य और चिन्तन है। जीवन ही जो सुख-दुःख से ऊपर है मन का एकमात्र अवलम्बन है। मृत्यु को चीर कर भी जीवन का स्रोत बहता रहता है। जीवन और जन्म एक ही वस्तु नहीं हैं; जीवन के शाश्वत प्रवाह में न जाने कितने जन्म-मरण बहते रहते हैं। जन्म और मरण तो वास्तव में जीवन के एक अध्याय का अथ और इति मात्र हैं। एक अंगरेज़ी कवि के अनुसार —

Birth is not the beginning of life,
Nor death its ending,
Birth and death begin and end
Only a single chapter in life.

मरण जीवन का अन्त नहीं है; एक स्तन को छोड़कर दूसरे स्तन के लगने के समान है। 'ज्योत्स्ना' में भी पंतजी यही बात कह रहे हैं :—

“निश्चय आत्मा है अक्षय,
निश्चय मृन्मय तन नश्वर
यह जीवन-चक्र चिरंतन,
तू हँस-हँस जी, हँस-हँस मर !”

गुंजन के कवि ने सुख-दुःख के सम्बन्ध में अपने स्पष्ट विचार प्रकट किये हैं। उसे न तो अविरत सुख ही अभीष्ट है और न अविरत दुःख ही। सुख-दुःख के मधुर मिलन से वह जीवन को 'परिपूरन' देखना चाहता है। किन्तु दूसरी ओर कवि ने यह भी कहा है :—

विश्वास चाहता है मन
विश्वास पूर्ण जीवन पर

सुख दुख से ऊपर मन का
जीवन ही रे अवलम्बन ।

इस विरोधाभास के समाधान के लिये हमें कवि के भिन्न भिन्न दृष्टिकोण को समझ लेना होगा । श्री शान्तिप्रिय द्विवेदी के शब्दों में कवि के दो दृष्टिकोण हैं (१) सापेक्षिक (२) निरपेक्ष । सुख-दुःख को सापेक्षता पर जहाँ कवि जोर देकर उनको वाञ्छनीय बतलाता है वह उसका सापेक्षिक दृष्टिकोण है । दूसरी ओर उसका निरपेक्ष दृष्टिकोण भी है—

सुख दुख के पुलिन डुबा कर
लहराता जीवन-सागर ।

पंत का यही निरपेक्ष दृष्टिकोण सापेक्षिक दृष्टिकोण को संतुलन देता है । सुख दुःख को कवि निमित्त-मात्र मानता है, इसीलिये उनके प्रांत अनावश्यक लोभ न रख कर उनका समुचित संतुलन कर लेता है । यों कहें कि उभय द्वन्द्वात्मक तत्त्वों के परे एक परम सत्य को पा लेने के लिये कवि अपने निरपेक्ष दृष्टिकोण में एक तटस्थ द्रष्टा है, हाँ, उसकी तटस्थता मनुष्य की आत्म-साधना की ओर अधिक ममतालु है । अथवा यह कहें कि एक कवि का दृष्टिकोण है, दूसरा दार्शनिक का ।

जीवन के सम्बन्ध में गुंजन में इतने अधिक उद्गार प्रकट किये गये हैं कि जिनको पढ़ कर ऐसा भान होने लगता है मानो जीवन के रहस्यमय दर्शन से कवि बहुत अधिक प्रभावित हुआ हो । ऐसा ज्ञात होता है मानो इस काव्य का पृष्ठ पृष्ठ जीवन से छिड़क दिया गया हो !

आकांक्षा की धारा

चेतनता के प्रवाह की भाँति आकांक्षा का उच्छ्वसित वेग भी गुंजन में सर्वत्र दिखलायी पड़ेगा—

चिर आकांक्षा से ही थरथर
उद्वेलित रे अहरह सागर ।
अविरत इच्छा ही मैं नर्तन
करते अबाध रवि शशि उडगण ॥

समस्त ब्रह्माण्ड में इच्छा का ही अविरत नृत्य हो रहा है ।
'एकोऽहं बहु स्याम्' की इच्छा करके निस्पृह परमात्मा को भी
सस्पृह बनना पड़ता है, किन्तु इच्छा इच्छा में भी अन्तर है ।

इच्छा है जग का जीवन पर साधन आत्मा का धन;
जीवन की इच्छा है छल इच्छा का जीवन जीवन ।

मनोविश्लेषण शास्त्रियों ने तो कामेच्छा को ही, जिसकी चर्चा भी सदाचार और धर्मनीति के लिए घातक समझी जाती थी, सब कार्यों की प्रेरक शक्ति माना है । कामेच्छा हमारी प्रवृत्तियों में सबसे प्रमुख और व्यापक है । फ्रायड ने काम-शक्ति को 'लिबिडो' के नाम से अभिहित किया है । यह कामेच्छा मनुष्य में स्वभावतः पाई जाती है । कवि पंत भी इस के अपवाद नहीं हो सकते । उनके हृदय में भी जब युवकांचित इच्छाएँ उत्पन्न होती हैं तब—

अधरों पर मधुर अधर धर,
कहता मृदु स्वर मैं जीवन—
बस एक मधुर इच्छा पर
अर्पित त्रिभुवन यौवन-धन !

इस प्रकार की वासना-जन्य इच्छा के उत्पन्न होते ही—

पुलकों से लद जाता तन,
मुँद जाते मद से लोचन;
तत्क्षण सचेत करता मन,
ना, मुझे इष्ट है साधन !

मदोन्मत्त होकर कवि ज्योंही उच्छ्वलता के मार्ग की ओर
अग्रसर होने लगता है त्योंही उसकी विवेक-बुद्धि जागृत हो
उठती है और अन्तःपर्यवेक्षण के परिणाम स्वरूप उसके
मुख से निकल पड़ता है— ‘ना, मुझे इष्ट है साधन !’ मनो-
विश्लेषण शास्त्र के शब्दों में हम इसे कामेच्छा का उदात्त
अथवा ऊर्जस्वित रूप (Sublimation) मान सकते हैं ।

प्रकृति-वर्णन

हिन्दी में छायावाद स्कूल की रचनाओं के पहले प्रकृति को वह सम्मानित पद प्राप्त न था जो उसने आज प्राप्त कर लिया है। रीतिकालीन कवियों ने अधिकतर प्रकृति का वर्णन उद्दीपन-रूप में ही किया है किन्तु प्रकृति का भी अपना स्वतन्त्र अस्तित्व है; वह स्वयं हमारे प्रेम का आलम्बन हो सकती है; सुख-दुःख में हमारा साथ दे सकती है। इसलिए बहुत से छायावादी कवियों ने प्रकृति के बहुत से सुन्दर शब्द-चित्र उपस्थित किये हैं किन्तु प्रकृति को इस पद पर प्रतिष्ठित करने का सर्वाधिक श्रेय श्री सुमित्रानन्दन पन्त को है। जिस का जन्म ही अल्मोड़ा जैसे प्राकृतिक दृश्यों से परिपूर्ण प्रदेश में हुआ हो, जो अपने शैशव-काल से ही सुमन, निर्भर, लता, बादल एवं रम्य पर्वतमाला के साहचर्य में रहा हो, प्रकृति के आकर्षक रूप का उस पर प्रभाव पड़े बिना नहीं रहेगा। कवि के भाव-जगत् को प्राकृतिक सुषमा से जितनी प्रेरणा मिलती है, उतनी और किसी वस्तु से नहीं। कवि के हृदय में बाला के बाल-जाल का आकर्षण जब उपस्थित होता है, तब भी वह अपनी प्यारी प्रकृति के सम्मुख उसे ठुकरा देता है; अस्थिचर्ममय सौंदर्य के सामने वह आत्म-समर्पण नहीं करता-

‘छोड़ दुमों की मृदु छाया,
तोड़ प्रकृति से भी माया,
बाले, तेरे बाल जाल में कैसे उलझा दूँ लोचन ?’

प्रकृति के प्रति अपने अगाध मोह को स्वयं पंतजी ने निम्न-लिखित शब्दों में स्वीकार किया है :—

“कविता करने की प्रेरणा मुझे सबसे पहले प्रकृति-निरीक्षण से मिली है, जिसका श्रेय मेरी जन्मभूमि कूर्माचल प्रदेश को है। कवि-जीवन से पहले भी, मुझे याद है, मैं घाटों पर कान्त में बैठा, प्राकृतिक दृश्यों को एकटक देखा करता था; और कोई अज्ञात आकर्षण, मेरे भीतर, एक अव्यक्त सौन्दर्य का जाल बुन कर मेरी चेतना को तन्मय कर देता था। जब कभी मैं आँखें मूँद कर लेटता था, तो वही दृश्यपट, चुपचाप, मेरी आँखों के सामने घूमा करता था। अब मैं सोचता हूँ कि क्षितिज में सुदूर तक फैली, एक के ऊपर एक उठी, ये हरित नील धूमिल, कूर्माचल की छायांकित पर्वत श्रेणियाँ, जो अपने शिखरों पर रजत मुकुट हिमाचल को धारण की हुई हैं, और अपनी ऊँचाई से आकाश की अवाक नीलिमा को और भी ऊपर उठाई हुई हैं, किसी भी मनुष्य को महान नीरव संमोहन के आश्चर्य में डुबा कर, कुछ काल के लिए भुला सकती हैं; और यह शायद पर्वत प्रान्त के वातावरण का ही प्रभाव है कि मेरे भीतर विश्व और जीवन के प्रति एक गंभीर आश्चर्य की भावना, पर्वत ही की तरह, निश्चल रूप से, अवस्थित है।”

यद्यपि ‘गुञ्जन’ में कवि की प्रतिभा का प्रवाह प्राकृतिक दृश्यों की अपेक्षा मानव-जीवन के क्षेत्र में अधिक प्रवाहित हुआ है तथापि इसमें प्रकृति के सुन्दर चित्रों का अभाव नहीं है। एक विराट् चित्र देखिये :—

‘नीरव संध्या में प्रशान्त
डूबा है सारा ग्राम प्रान्त।

पत्रों के आनत अधरों पर सो गया निखिल वन का मर्मर,
ज्यों वीणा के तारों में स्वर।

खग-कूजन भी हो रहा लीन, निर्जन गोपथ अब धूलि-हीन,
धूसर भुजङ्ग सा जिह्म क्षीण ।

भींगुर के स्वर का प्रखर तीर केवल प्रशान्ति को रहा चीर,
संध्या प्रशान्ति को कर गभीर ।

इस महाशान्ति का उर उदार, चिर आकांक्षा की तीक्ष्ण धार,
ज्यों बेध रही हो आर-पार ।'

भींगुर का स्वर सन्ध्या प्रशान्ति को और भी गभीर बना
रहा है; भींगुर के मुख से मानो नीरवता ही बोल रही हो ।

पंतजी ने प्रकृति के बाह्य रूप का ही अनुभव नहीं किया,
आपने उसकी आत्मा को भी पहचाना है । क्योंकि कवि स्वयं
चेतन और सहृदय है, इसलिए वह सृष्टि की जड़ और मूक
वस्तुओं से भी सम्बन्ध स्थापित कर उन्हें भी अपने ही जैसा
हिलता-डुलता प्राणी समझने लगता है । जड़ वस्तुएँ भी उस
की सजीवता अथवा चेतनता से स्पन्दित होकर उसके ही
हृदय की प्रतिध्वनि बन जाती हैं । कवि जब सरोवर में लह-
रियाँ उठता हुआ देखता है तो उसे वहाँ मानव-हृदय की
आशाएँ-आकांक्षाएँ ही दिखलाई पड़ती हैं :—

शान्त सरोवर का उर
किस इच्छा से लहराकर
हो उठता चंचल चंचल ?

उसकी दृष्टि में दशमी का शशि लहरों के घूँघट से झुक-झुक
कर रुक-रुक कर मुग्धा की भाँति अपना तिर्यक् मुख दिख-
लाता है । कवि प्राकृतिक पदार्थों में अपने ही जैसे जीवन की
झलक देखकर उनसे अपना रागात्मक सम्बन्ध स्थापित कर
लेता है ।

निखिल विश्व में अनन्त प्राण का खेल चल रहा है। जिस प्राण से अनुप्राणित होकर यह सरिता प्रसरणीला है, उसी के बल से जल में संजीवनीशक्ति और प्रवाह है, उसी के बल से लहरों में लहराने का गुण पाया जाता है। कवि ने प्रकृति को चेतनता प्रदान कर मानव-हृदय से तादात्म्य स्थापित किया है। विश्व-प्रकृति के सौन्दर्य के भीतर उसने अनन्त प्राण की खोज की है, तभी तो वह गतिशीला सरिता में आत्मा के अस्तित्व का अनुभव करता हुआ कहता है :—

आत्मा है सरिता के भी
जिससे सरिता है सरिता

पंतजी वस्तुतः प्रकृति के ही कवि हैं। कोई चाहे तो उनकी कविताओं से प्राकृतिक सुषमा-सम्पन्न एक मनोमोहक चित्र-संग्रह तैयार कर सकता है। कवि ने 'भावी पत्नी के प्रति' तथा 'अपसरा' में जो सौन्दर्य के चित्र खींचे हैं, वे वास्तव में प्राकृतिक सुषमा के ही रमणीय चित्र हैं। उनकी भावी पत्नी को नैसर्गिक रूप की ही कोई देवी समझिए।

अपनी भिन्न भिन्न मनोदशाओं के अनुसार कवि ने प्रकृति के विविध चित्र खींचे हैं। खिलती हुई नव कलियों को देखकर कवि के मुख से हठात् उल्लासोक्ति निकल पड़ती है :—

“खिलती मधु की नव कलियाँ, खिल रे खिल रे मेरे मन !
नव सुषमा की पंखड़ियाँ, फैला फैला परिमल-धन !”

हँसते हुए फूलों को देखकर कवि को उनके भाग्य पर ईर्ष्या-सी होने लगती है और जग के सुख-दुःख, पाप-ताप, तृष्णा-ज्वाला से युक्त मानव-जीवन पर उसके मुख से व्यथित उद्गार निकल पड़ते हैं :—

‘कुसुमों के जीवन का पल हँसता ही जग में देखा।
इन म्लान मलिन अधरों पर स्थिर रही न स्मिति की रेखा।’

भिन्न मनोदशा में वही कवि हँसमुख प्रसूनों को देखकर जग-जीवन को एक आशामय संदेश देता हुआ जान पड़ता है :—

‘हँसमुख प्रसून सिखलाते पल भर जो है हँस पाओ
अपने उर की सौरभ से जग का आंगन भर जाओ।’

हँसते हुए फूलों को देखकर जिस कवि ने कभी यह कहा था
‘इन म्लान मलिन अधरों पर स्थिर रही न स्मिति की रेखा’—
वही कवि भिन्न मनोदशा में मानव को सम्बोधित कर इस
प्रकार के उद्गार भी प्रकट कर डालता है—

‘सीखा तुमसे फूलों ने मुख देख मन्द मुसकाना।
तारों ने सजल नयन हो करुणा किरणें बरसाना।’

‘आती ही जाती नित लहरी, कब कौन पास किसके ठहरी !’
आदि कविताओं में पंतजी ने प्रकृति का आश्रय ले दार्शनिक
सिद्धान्तों का भी सुन्दर वर्णन किया है।

शुद्ध प्राकृतिक वर्णन की दृष्टि से ‘नौका विहार’ गुञ्जन
की सर्वोत्कृष्ट कविताओं में से है किन्तु इसका भी उपसंहार
दार्शनिकता लिये हुए है :—

‘जब जब लगती है नाव पार
उर में आलोकित शत विचार
इस धारा-सा ही जग का क्रम
.....’

पाठक जब उपसंहार के पद्यों को हृदयङ्गम करने लगता है तो
‘नौका-विहार’ का शुद्ध प्राकृतिक वर्णन भी, जिसमें स्थान

स्थान पर बिम्ब-ग्रहण होता है, गौण रूप धारण कर लेता है; दार्शनिक भाव उसे आच्छादित कर लेते हैं।

चाँदनी, एक तारा तथा गङ्गा की शांत, स्निग्ध, उज्ज्वल ज्योत्स्ना का सुन्दर वर्णन 'गुञ्जन' में मिलेगा जो पंतजी के प्रकृति-प्रेम और उनके पर्यवेक्षण का परिचायक है। चाँदनी पर दो कविताएँ हैं। इन दोनों कविताओं में अभिव्यंजना का वैचित्र्य अथवा कला-नैपुण्य ही अधिक है, हृदय का उतना स्पर्श नहीं। पंतजी की 'चाँदनी' में रीतिकालीन कवियों के चित्रण की तरह उद्दीपन-रूप में प्रकृति-चित्रण नहीं है, उसका वर्णन आलम्बन के रूप में ही किया गया है।

‘जग के दुख-दैन्य शयन पर यह रुग्णा जीवन-बाला
रे कब से जाग रही यह आँसू की नीरव माला।’

मैं तो युग-धर्म की छाप भी स्पष्टतः परिलक्षित होती है। किन्तु इस काव्यता में अनुभूति का अभाव होने के कारण हम इस रूप में कवि के साथ चाँदनी को नहीं देख पाते। निराला जी ने 'चाँदनी' की आलोचना करते हुए एक बार लिखा था—
“नीले आकाश के शतदल पर शुभ्र या शारद हँसी हँसने वाली
(शायद चाँदनी) अपनी कोमल हथेली पर शशि मुख रख कर
चुपचाप एकटक देखती हुई बैठी है ॥१॥ वह नदी के तट पर
सोई हुई है। साँसों में हवा स्तब्ध है (रुकी है जैसे) केवल
लघु लघु लहरों पर उसके हृदय का स्पन्दन मिलता है ॥२॥”

पहले यह देखिए कि पहले बन्द से या पहले भाव से दूसरे भाव का सम्बन्ध क्या है? कुछ न मिलेगा। वहाँ बैठी है, यहाँ सोई है। पहले में एक आलङ्कारिक वर्णन है, दूसरे में एक। तीसरे बन्द में देखिए :—

“वह सुन्दर अपनी छाया में छिप कर शिखर पर खड़ी है—
कैसा सम्बन्ध परस्पर मिलता जा रहा है ! वह कवि के आँगन
पर शशि-किरणों से उतरी हुई है । अन्त में वह है, और वह
है भी नहीं— उपदेशात्मक दर्शन-शास्त्र ! फूल का कला वाला
रूप मिलाइये । तने में डालें भिन्न भिन्न होकर भी जुड़ी हैं,
इसी तरह डालों से पत्ते, पत्तों से फूल, फूलों से खुशबू,
खुशबू अपने तन्व में सारे पेड़ को ढके हुए है । यह
कला है । यह बात पन्तजी की इस कविता में नहीं । हर बन्द
अपना राग अलाप रहा है ।”

इस प्रकार निरालाजी ने पन्तजी की ‘चाँदनी’ में अन्विति
के अभाव की शिकायत की है । यद्यपि इसके उत्तर में यह
कहा जा सकता है कि कवि एक ही वस्तु को भिन्न मनोदशा
का आश्रय लेकर अनेक रूपों में देख सकता है तथापि हमें
यह अवश्य मानना होगा कि ‘चाँदनी’ में कल्पना का प्राधान्य
होने से पाठकों को मस्तिष्क का व्यायाम ही अधिक करना
पड़ता है, इस कविता में हृदय नहीं रमता । हाँ, यह अवश्य
है कि इसके कई कल्पना-चित्र अनूठे हैं । संभवतः इसीलिए
स्वयं कवि द्वारा चुनी हुई कविताओं में इसे स्थान मिला है ।

कभी कभी आलोचक पन्तजी और वर्डस्वर्थ के प्रकृति-
प्रेम की तुलना कर बैठते हैं । इसमें तो सन्देह नहीं कि ‘आत्मा
है सरिता के भी’ जैसी पंक्तियों में प्रकृति को चेतन सत्ता के
रूप में चित्रित किया गया है और ऐसा कवि लोग करते भी
आये हैं जैसा कि आनन्दवर्धन ने लिखा है —

भावानचेतनानपि चेतनवच्चेतनानचेतनवत् ।

व्यवहारयति यथेच्छं सुकविः काव्ये स्वतंत्रतया ॥

किन्तु वर्ड्स्वर्थ के लिए जैसे कहा जाता है कि उसने अपने आपको प्रकृति में खो दिया था, वैसा क्या पंतजी के लिए कहा जा सकता है ? किन्तु इसमें सन्देह नहीं, पंतजी प्रकृति के लाड़ले कवि हैं, प्रकृति ने उन्हें अपना मान लिया है और इस कवि ने प्राकृतिक सुषमा-सम्पन्न जो मनोमोहक चित्र भेंट किये हैं, उनके कारण उसका हिन्दी साहित्य के प्रकृति-प्रेमी कवियों में एक विशिष्ट स्थान है ।

उन्मन 'गुञ्जन' क्यों ?

पन्तजी के ही शब्दों में 'गुञ्जन' उनके "प्राणों की उन्मन गुञ्जन मात्र है" । किन्तु प्रश्न यह है कि कल्पना के उन्मुक्त पंख फैला कर उड़ने वाले इस गीति-विहग में अन्यमनस्कता का कारण क्या है ? श्री शांतिप्रिय द्विवेदी के शब्दों में "पन्त का पूर्व कवि, कठिन बचपन नहीं, कोमल बचपन लेकर आया था; उसमें माँ की श्री थी; इसीलिए उसकी कोमलता में करुणा का संस्कार भी था ।" आज के दुःसह क्रन्दन और असह्य पीड़न को देख उस शैशव का युवक कवि अपनी हँसी-खुशी भूल गया । 'वीणा' में हर्षोल्लास के स्वर में जिस कवि ने कभी यह गाया था —

“है स्वर्ण-नीड मेरा भी जग-उपवन में
है खग-सा फिरता नीरव भाव-गगन में
उड़ मृदुल कल्पना-पङ्क्तों में, निर्जन में,
चुगता हूँ गाने बिखरे तून में, कन में ।”

वही अब विषाद की वाणी में कह उठा —

“अपने मधु में लिपटा पर
कर सकता मधुप न गुञ्जन,
करुणा से भारी अन्तर
खो देता जीवन-कम्पन ।”

जिस वास्तविकता से विरत होकर पन्तजी कभी कल्पनाशील हुए थे, लौट कर उसी वास्तविकता की कल्पनाहीन कुरूपता पर बे असंतोषी भी हो गये । फलतः 'गुञ्जन' से उनके भीतर एक अन्यमनस्कता व्याप्त हो गयी —

“वन-वन उपवन
छाया उन्मन-उन्मन गुञ्जन”

इतना ही नहीं, उन्होंने अपनी इस उन्मन भावना का आरोप
भौरों पर भी कर डाला !

“नीले, पीले औ ताम्र भौर,
रे गन्ध-अन्ध हो ठौर-ठौर
उड़ पाँति-पाँति में चिर उन्मन
करते मधु के वन में गुञ्जन।”

किन्तु वास्तव में देखा जाय तो यह भ्रमरों का गुञ्जन नहीं,
कवि के प्राण रूपी अलियों का गुञ्जन है। ‘करते प्राणों के
अलि गुञ्जन’। सुख-दुःख की संवेदनाएँ चेतन प्राणियों को
ही होती हैं किन्तु मनुष्य में चेतनता का सर्वाधिक विकास
होने के कारण उसे ही सब से अधिक मानसिक यन्त्रणाओं
का शिकार बनना पड़ता है। इसी चेतनता के अभिशाप को
कोसते हुए भवभूति के राम करुण-कातर स्वर में पुकार
उठे थे —

“दुःखसंवेदनायैव रामे चैतन्यमाहितम्”

मनु के हृदय में भी इस आकांक्षा का उदय होता है कि मेरी
चेतनता चली जाय —

“विस्मृति आ, अवसाद घेर ले,
नीरवते ! बस चुप कर दे;
चेतनता चल जा, जड़ता से
आज शून्य मेरा भर दे।” (कामायनी)

मनुष्येतर वर्ग के चेतन प्राणी भूत और भविष्य की
यन्त्रणाओं से मुक्त रहते हैं किन्तु मनुष्य के भाग्य में यह

कहाँ ? भूत और भविष्य के विषय में भी वह आशा-निराशाओं के द्वन्द्व में पिसता रहता है। अपनी जिज्ञासा वृत्ति की परितृप्ति के हेतु वह वर्तमान के उन रहस्यों के उद्घाटन में भी संलग्न रहता है जिनके कारण कभी-कभी उस पर विपत्ति के पहाड़ टूट पड़ते हैं। यदि वह इस जिज्ञासा वृत्ति के चक्र में न पड़े तो संभवतः वह अनेक प्रकार की मानसिक व्यथाओं से बच जाय। किन्तु जिज्ञासा तो मनुष्य का अभिन्न अङ्ग है, उसको कोई कैसे छोड़ सकता है ? इतना ही नहीं, दूसरों के दुःखों की चिन्ता भी इस चेतन प्राणी को सताती रहती है। देखिए पन्त का कवि अपने विधुर मन को विश्व-वेदना में तपने का आदेश देता है —

“विश्व-वेदना में तप प्रतिपल,
जग-जीवन की ज्वाला में गल,
वन अकलुप, उज्ज्वल औ कोमल,
तप रे विधुर-विधुर मन ।”

मनुष्य की आधि-व्याधियों की कोई सीमा नहीं, फिर उसका गुञ्जन उन्मन गुञ्जन न हो तो और क्या हो ? इस प्रसंग में अंग्रेज़ी के सुकवि शेली की पंक्तियाँ अनायास स्मरण हो आती हैं —

We look before and after
And pine for what is not
Our sincerest laughter
With some pain is fraught.
Our sweetest songs are those
That tell of saddest thoughts.

वन्य कुसुम शाखाओं पर हँसते हैं किन्तु मनुष्य के विपाद का कोई पार नहीं है। कवि के ईर्ष्याजन्य विवशता के अनुताप मिश्रित उद्गार तो देखिए :—

“कुसुमों के जीवन का पल हँसता ही जग में देखा
इन म्लान मलिन अधरों पर स्थिर रही न स्मिति की रेखा।”

‘अप्सरा’ का उपसंहार करते हुए जब पंतजी कहते हैं :—

“जग के सुख दुख, पाप ताप तृष्णा ज्वाला से हीन,
जरा-जन्म-भय-मरण शून्य, यौवनमयि नित्य नवीन;
अतल-विश्व-शोभा-वारिधि में, मज्जित जीवन-मीन,
तुम अदृश्य, अस्पृश्य अप्सरी निज सुख में तल्लीन।”

तो वे वास्तव में अप्सरा और मानव-जीवन की विषादपूर्ण असमानताओं को ही ईर्ष्या भरी दृष्टि से व्यंजित करते हैं।

सुखी से सुखी व्यक्ति को भी यह भय बना रहता है कि कहीं यह सुख चला न जाय, दुःख की आशङ्का ही शुद्ध सुख-बोध में बाधक बन जाती है। इसीलिए मनुष्य जैसे चेतन प्राणी के लिए दुःखरहित शुद्ध सुख की कल्पना तक भी नहीं की जा सकती —

“निज सुख से ही चिर चंचल मन,
मैं हूँ प्रतिपल उन्मन, उन्मन।”

रवि बाबू ने अपने Personality नामक व्याख्यान-संग्रह में एक स्थान पर लिखा है कि हमारी सबसे बड़ी आशा ही यह है कि संसार में दुःख का अस्तित्व है। बच्चे को माता में पूर्ण विश्वास रहता है। इसीलिए तो वह चिल्लाता है। यदि ऐसा न हो तो उसकी वाणी मूक हो जायगी। इसी प्रकार मनुष्य की अपूर्णता का अर्थ ही यह है कि पूर्णता में उसकी

श्रद्धा है। इस दुःख से प्रेरित होकर ही तो मनुष्य उपासना द्वारा अपने ही हृद्देश में प्रच्छन्न असीम परमात्मा के द्वार खट-खटाता है। इस प्रकार उसकी गहनतम अंतर्बुद्धि का उद्घाटन होता है और बिना किसी तर्क-वितर्क के वह आदर्श की सचाई में विश्वास करने लगता है।

पंतजी की अन्यमनस्कता भी निराशावाद की ओर ले जाने वाली नहीं है, अपूर्णता की वह भावना ही जो पूर्णता में पर्यवसित होने को व्यग्र हो उठी है, कवि को उन्मन बनाये हुए है :—

“लगता अपूर्ण मानव जीवन
मैं इच्छा से उन्मन, उन्मन।”

विश्व को नव-जीवन प्रदान करने की आकुलता के कारण भी कवि उन्मन हो रहा है —

“चाहिए विश्व को नव-जीवन
मैं आकुल रे उन्मन-उन्मन।”

जन्म से लेकर मृत्यु पर्यन्त मनुष्य अपनी जिज्ञासा की तृप्ति के लिए प्रयत्नशील रहता है। उसकी आत्मा का चिर-धन क्या है ? इस प्रश्न ने अनेक दार्शनिकों के मन में उथल-पुथल मचाई है। जीवन-रहस्य के प्रयत्न को समझाने में पोथे के पोथे रंगे गये हैं किन्तु इतना वाक्-विस्तार होने पर भी वह रहस्य अब भी रहस्य ही बना है। मनुष्य ही मनुष्य के लिए पहेली बना हुआ है। अज्ञात की जिज्ञासा ने मनुष्य की चितना और उसकी साधना के प्रवाह को अञ्जुण जारी रखा है। पंत का दार्शनिक कवि भी इस गुत्थी को सुलझाने में व्यग्र दिखलाई पड़ता है और यह अतृप्त जिज्ञासा भी कवि की अन्यमनस्कता का एक कारण बन जाती है—

“क्या मेरी आत्मा का चिर-धन ?

मैं रहता नित उन्मन, उन्मन ।”

‘गुञ्जन’ में चितन और मनन का प्राधान्य है । उसकी बहुत सी कविताएँ दार्शनिक भावना से समन्वित हैं । एक चितन-शील दार्शनिक कवि के लिए उन्मन रहना वैसे भी स्वाभाविक ही है । अन्तर्मुखी स्वभाव वाला कवि मनन पर ज़ोर देगा ही —

न पिक प्रतिभा का कर अभिमान

मनन कर मनन शकुनि नादान ।

सुख-दुःख की मीमांसा करने वाले ‘गुञ्जन’ के कवि ने यद्यपि इन द्वन्द्वों की सापेक्षता पर ही अधिक ज़ोर दिया है किन्तु फिर भी वह कहीं-कहीं दुःख के प्रति पक्षपात सा कर गया है —

“दुख इस मानव आत्मा का

रे नित का मधुमय भोजन

दुख के तम का खा खाकर

भरती प्रकाश से वह मन ।

*

*

*

दुख दावा से नव अंकुर पाता जग-जीवन का वन,

करुणार्द्र विश्व की गर्जन बरसाती नव-जीवन कण ।”

पंतजी की तो ‘चाँदनी’ भी “जग के दुख से जर्जर उर, बस मृत्यु शेष है जीवन” हो रही है । इस प्रकार चाँदनी पर दुःख का आरोप अपनी मनोगत भावना के अनुसार युग-धर्म का परिणाम हो सकता है । किन्तु कुछ भी हो, गुंजन में दुःखवाद की धारा प्रवाहित मिलेगी । किस मानव का हृदय होगा, जिसे पंतजी की निम्नलिखित पंक्तियाँ पढ़ते ही स्पर्श न कर सकें —

“भर गई कली, भर गई कली,
सरला प्रातः ही तो विहँसी
रे कूद सलिल में गई चली !

आती ही जाती नित लहरी,
कब पास कौन किसके ठहरी ?”

‘गुंजन’ में हर्ष-हुलास सभी कुछ है, सुन्दर सुखमय जीवन की मधुर अभिव्यक्ति अनेक स्थानों पर हुई है, सब को सुहाने वाला कलरव उसके पृष्ठ पृष्ठ पर गुंजित हो रहा है, जीवन की लहर-लहर से खेलने की अनेक उल्लासोक्तियों से भी यह काव्य मुखरित है, किन्तु इसमें कोई सन्देह नहीं कि स्थान स्थान पर उसकी बहुत सी पंक्तियाँ विषाद से रेखांकित सी कर दी गयी हैं; संभवतः इसीलिए ‘गुंजन’ उन्मन गुंजन है और क्यों न हो, हमारा करुणतम गुंजन ही तो शेली के शब्दों में मधुरतम गुंजन है। पंतजी के राग में कसक है किन्तु वह मीठी कसक होने के कारण राग को और भी मीठी बना देती है।

रहस्यवादी भावना

“रहस्यवादी कवि उस अज्ञात और अनन्त प्रियतम को आलम्बन बना कर अत्यन्त चित्रमयी भाषा में प्रेम की अनेक प्रकार से व्यंजना करता है। रहस्यवाद के अन्दर आने वाली रचनाएँ संतों या साधकों की उस वाणी के अनुकरण पर होती हैं, जो तुरीयावस्था या समाधि-दशा में नाना रूपकों के रूप में उपलब्ध आध्यात्मिक ज्ञान का आभास देती हुई चलती हैं।”

जीवन और मरण एक पहेली है और यह संसार एक रहस्यमयी शक्ति का व्यक्त रूप है। इस गोरखधन्धे को वही सुलभा सकता है, जो अनेक दिव्यानुभूतियों के क्रमिक विकास द्वारा आत्म-दर्शन की उच्च श्रेणी तक पहुँच गया हो, किन्तु इस प्रकार की अनुभूतियाँ वर्णन करने की वस्तु नहीं हैं, वे तो हमारे अन्तश्चतुर्ग्रों से ही सम्बन्ध रखती हैं। ‘नश्वर स्वर से कैसे गाऊँ आज अनश्वर गीत?’ आध्यात्मिक शक्ति-सम्पन्न पुरुष तो इस जीवन के रहस्य को समझ जाता है, किन्तु दूसरों को वह समझावे कैसे, जब कि वह समझाने की वस्तु ही नहीं; और अगर यह शब्दों द्वारा समझाया जा सके तो फिर रहस्यवाद ही कैसा? सच्चा रहस्यवादी होना वास्तव में एक कठिन साधना है। “जब मनुष्य अलौकिक शक्ति द्वारा अपनी आत्मा तथा संसार और इन सबके मूल कारण स्वरूप परमात्मा के सम्बन्ध में कुछ अनुभव प्राप्त करता है, तभी वह रहस्यवाद के क्षेत्र में प्रवेश करता है। उसकी दृष्टि आत्मा की दृष्टि होती है। वह सब में एक प्रकार की आध्यात्मिकता देखने लगता है। रहस्यवाद का मूल स्रोत वर्तमान अनुभव

की अपूर्णता को पूर्ण करने की इच्छा में है ।” डा० रामकुमार वर्मा के शब्दों में “रहस्यवाद जीवात्मा की उस अन्तर्हित प्रवृत्ति का प्रकाशन है, जिसमें वह दिव्य और अलौकिक शक्ति से अपना शान्त और निश्चल सम्बन्ध जोड़ना चाहती है और यह सम्बन्ध यहाँ तक बढ़ जाता है कि दोनों में कुछ भी अन्तर नहीं रह जाता । जीवात्मा की सारी शक्तियाँ इसी शक्ति के अनन्त वैभव और प्रभाव से ओत-प्रोत हो जाती हैं । जीवन में केवल उसी दिव्य शक्ति का अनन्त तेज दिखलाई पड़ता है और आत्मा अपने अस्तित्व को एक प्रकार से भूल-सी जाती है । एक भावना, एक वासना, हृदय में प्रभुत्व प्राप्त कर लेती है और यह भावना जीवन के अङ्ग-प्रत्यङ्गों में प्रकाशित होती रहती है ।” अथवा जैसे Spurgeon ने बतलाया है — “Mysticism is in truth a temper, rather than a doctrine, an atmosphere rather than a system of philosophy.” अर्थात् रहस्यवाद एक प्रकार की दिव्य मनोवृत्ति है, सिद्धान्त नहीं; यह तो एक प्रकार का आध्यात्मिक वातावरण है, कोई दर्शन-पद्धति नहीं ।

श्री इलाचन्द्र जोशी ने ‘विजनवती’ की भूमिका में लिखा था “पंतजी के ‘पल्लव’ में विशुद्ध रोमांटिक रस छलकता है, पर ‘गुंजन’ में उनका खिंचाव रहस्यवाद की ओर अधिक जान पड़ता है ।” किन्तु यदि वास्तव में देखा जाय तो जिस अर्थ में हम ब्लेक आदि कवियों को रहस्यवादी समझते हैं, उस अर्थ में पंतजी को रहस्यवादी नहीं कहा जा सकता । “असल में जिसे रहस्यवाद कहकर गीतांजलि के समालोचकों ने प्रशंसा की है, वह भाव हिन्दी के कवियों में सिर्फ महादेवी की कविताओं में ही पाया जाता है । आत्मार्पण की व्यग्र व्याकुलता, किसी के पदचाप के प्रति उत्कर्ण उत्सुकता और

एकान्त तन्मयता की दृष्टि से महादेवी की कविताएँ ही 'गीतांजलि' की जाति की हैं ।" आचार्य शुक्ल के मतानुसार भी "छायावाद का मूल अर्थ (रहस्यवाद) लेकर तो हिन्दी काव्य-क्षेत्र में चलने वाली श्री महादेवी वर्मा ही हैं । पंत, प्रसाद, निराला इत्यादि और सब कवि प्रतीक-पद्धति या चित्र-भाषा शैली की दृष्टि से ही छायावादी कहलाए ।" इस प्रकार यद्यपि हम न तो पंतजी को ही प्रकृत रहस्यवादियों की श्रेणी में रख सकते हैं और न उनके काव्य को ही रहस्यवादी कहा जा सकता है, तथापि 'गुंजन' में रहस्यवादी भावनाएँ यत्र-तत्र बिखरी पड़ी हैं, जैसा कि नीचे के विवेचन से स्पष्ट होगा ।

कवि मानवेतर सृष्टि के साथ भी अपने रागात्मक संबन्ध की स्थापना करता है । लहरों के उतार-चढ़ाव में वह अपने ही हृत्कम्पन को प्रतिबिम्बित होता हुआ देखता है । शान्त सरोवर को तरङ्गित देखकर कवि उसके उर में भी इच्छाओं का आरोप करता हुआ कह उठता है —

शांत सरोवर का उर

किस इच्छा से लहरा कर

हो उठता चञ्चल चञ्चल ?

बहिर्जगत् का उसके लिए तब तक कोई महत्त्व नहीं है, जब तक वह उसका अंतर्जगत् से सामंजस्य न करले । क्योंकि कवि स्वयं चेतनाशील प्राणी है, वह शांत सरोवर को तरंगित देखकर उसको भी चेतनता और इच्छा से अनुप्राणित होता हुआ देखता है । किन्तु शांत सरोवर के उर में वह कौनसी इच्छा है, इसका कवि को पता नहीं और यही औत्सुक्यपूर्ण जिज्ञासा (Mystic quest) रहस्यवाद की एक प्रमुख विशेषता है ।

मनुष्य एक पथिक की तरह जन्मजन्मान्तर की यात्रा कर रहा है। वह अनन्त के पथ पर अग्रसर होता ही चला जा रहा है।

“इस पथ का उद्देश्य नहीं है श्रान्त भवन में टिक रहना, किन्तु पहुँचना उस सीमा पर जिसके आगे राह नहीं।”

(प्रसाद)

यह समस्त जीवन ही विराट् नदी की अविच्छिन्न अविरल धारा की तरह है। सूर्य की ओर देखो, कैसा सदा समुज्ज्वल और अनन्त यात्री है, जो एक बार अपनी यात्रा प्रारम्भ करके कभी नहीं थका। इसलिए हे यात्री ! चलता चल।

सूर्यस्य पश्य श्रेमाणं यो न तंद्रयते चरन्

चरैवेति (प्रेतरेय ब्राह्मण)

सृष्टि की जड़-चेतन सभी वस्तुएँ मानो एक अज्ञात की ओर अनन्त यात्रा कर रही हैं। अथर्ववेद के ऋषि ने भी इसी औत्सुक्यपूर्ण जिज्ञासा से प्रश्न किया था —

कथं वातो नेलयति कथं न रमते मनः ।

किमापः सत्यं प्रेप्सन्तीनेलयन्ति कदाचन ॥

अर्थात् वायु स्थिर क्यों नहीं रहती ? मनुष्य का मन विग्राम क्यों नहीं लेता ? क्यों और किसकी तलाश में जल दौड़ता रहता है और अपनी धारा को एक क्षण के लिए भी नहीं रोकता ? वैदिक ऋषि की इस अन्तिम उक्ति में और पंतजी की जिज्ञासा में कितना साम्य है ! रवीन्द्र की भी एक ऐसी ही उक्ति का अनायास स्मरण हो रहा है :—

Of what lover thinks the sun-flower with
face upturned ?

What desire is borne by the flowing
stream ?

इस प्रकार की पंक्तियों का सौन्दर्य रहस्य के आवरण में ही है। ऋग्वेद की 'कस्मै देवाय हविषा विधेम' जैसी पंक्तियाँ भी रहस्यमयी होने के कारण ही अमर होगई हैं। भला जल में कौनसी इच्छा है, जिसके कारण वह लहराकर चञ्चल हो उठता है? कवि शांत सरोवर को भी हृदय-सम्पन्न वस्तु के रूप में देखता है, तभी तो उसमें इच्छाएँ उत्पन्न होती हैं। यह कवि की भावुकता है। किन्तु वह इच्छा है कौनसी? इस प्रश्न में ही रहस्यवादी भावना सन्निहित है। सृष्टि की समस्त वस्तुएँ ही किसी अज्ञात से मिलने के लिए त्वरित गति से आगे बढ़ रही हैं। शांत सरोवर का उर भी जब तरंगित हो उठता है तो मानो उसमें भी उसी अज्ञात से मिलने की आकुल अभिलाषा फूट पड़ती है।

सोए वीणा के सुर

क्यों मधुर स्पर्श से मर्-मर्,

बज उठते प्रतिपल प्रतिपल !

सोए वीणा के स्वर मधुर स्पर्श से मर्-मर् बज उठते हैं, किन्तु प्रश्न यह है कि वे क्यों बज उठते हैं? वैज्ञानिक इस सरल-सी उक्ति को सुनकर झुँझला उठेगा। वह कह देगा— 'यह भी कोई प्रश्न है? गायक की उँगलियों का जब वीणा के तारों से स्पर्श होगा, तब कम्पन का पैदा होना अनिवार्य ही है।' किन्तु कवि की दृष्टि वैज्ञानिक की दृष्टि नहीं है। एक रहस्यवादी काव्य का पारखी कहेगा— "आत्मा में परमात्मा के सभी गुण प्रतिबिम्बित होते हैं और इसी प्रकार परमात्मा में भी आत्मा के गुण पाये जाते हैं। आत्मा परमात्मा की प्राप्ति के लिए यदि उत्सुक है तो परमात्मा भी आत्मा के लिए (गजेन्द्र-रत्ना के समान) दौड़ पड़ता है। परमात्मा की छाया

जीवात्मा पर पड़ती है तो आत्मा की छाया भी परमात्मा पर पड़ती है। ऐसे ही भाव जब संसार के दृश्यों में प्रति-फलित होते हैं और कवि उस तारतम्य का वर्णन करने लगता है तो 'रहस्यवाद' हो जाता है। तंत्री के तारों में नाद है— नाद के लिए तारों की झंकार की आवश्यकता है। एक के छूने से दूसरा छू जाता है। यही रहस्यवाद है। हृदय रूपी वीणा के तार उस अदृश्य गायक की उँगलियों का स्पर्श पाकर भंकृत हो उठते हैं। Unseen Musician में श्री रवीन्द्र ने लिखा है —

Who sweeps his fingers over my lyre with
such power

I know not what great voice thrills with
distracting music ?

*

*

*

“बाजिलो काह्यार बीना मधुर स्वरे
आमार निभृत नव जीवन परे ॥

सीमार माफे असीम तुमि बाजाओ आपन सुर
आमार मध्ये तोमार प्रकाश ताई पतो मधुर ।”

सीमा के बीच में हे असीम ! तुम अपना सुर बजाते हो,
इसीलिए मुझ में तुम्हारा प्रकाश इतना मधुर होकर विराजा
करता है।

आशा के लघु अंकुर

किस सुख से फड़का कर पर
फैलाते नव दल पर दल !

आशा का छोटा-सा अंकुर उत्पन्न होता है, किन्तु आशा पर आशा उसी प्रकार बढ़ती चली जाती है, जिस प्रकार अंकुरित होकर लहलहाता हुआ पौधा अपने दल के दल फैलाता जाता है। शायक मैं जब उड़ने की सामर्थ्य का उद्गम होता है तो वह अपने पर फड़का कर एक वृक्ष की शाखाओं से दूसरे वृक्ष की शाखाओं पर उड़ता रहता है, उसी प्रकार आशा भी अंकुरित होकर क्रमशः विस्तृत और परिवर्द्धित होती जाती है किन्तु प्रश्न यह है कि आशा के लघु अंकुर को इस प्रकार फैलने में कौनसे सुख का अनुभव होता है ? उस परम प्रभु के संयोग की तनिक भी भूलक जब साधक को मिल जाती है, जब आशा की किरण उसके हृदय को देदीप्यमान करने लगती है तब उसे जो सुख प्राप्त होता है, वह वर्णनातीत है। उसी मिलन-सुख की प्राप्ति के प्रयत्नार्थ साधक की आशा प्रफुल्लित होकर बहुमुखी धाराओं में प्रवाहित होती रहती है।

मानव का मन निष्ठुर

सहसा आँसू में भर-भर

क्यों जाता पिघल-पिघल गल ?

मनुष्य का निष्ठुर मन सहसा आँसू में भर-भर क्यों पिघल जाता है ? उस अदृश्य शक्ति की जब कृपा होती है, तब आत्मा परमात्मा की ओर उन्मुख होती है, परमात्मा की असीम शक्ति से वह विस्मय-विमुग्ध हो उठती है; मन की कठोरता जाती रहती है, समवेदना और सहानुभूति के भाव जागृत हो उठते हैं। आत्मा अपनी संकीर्ण परिधि से ऊपर उठकर विश्वात्मा में ही अपना सच्चा स्वरूप देखने लगता है। प्रसार में ही उसे आनन्द की उपलब्धि होती है।

मैं चिर उत्कंठातुर

जगती के अखिल चराचर

यों मौन-मुग्ध किसके बल !

यहाँ पर उस अदृश्य शक्ति की ओर स्पष्ट संकेत है, किन्तु वह भी प्रश्नमयी भाषा में ।

आचार्य शुक्ल के शब्दों में “पन्तजी की रहस्य-भावना अधिकतर स्वाभाविक पथ पर पाई जाती है । कवि की रहस्य-दृष्टि प्रकृति की आत्मा— जगत् के रूपों और व्यापारों में व्यक्त होने वाली आत्मा— की ओर जाती है, जो ‘निखिल छवि की छवि है’ और जिसका अखिल जग-जीवन हास-विलास है । इस व्यक्त प्रसार के बीच उसका आभास पाकर कुछ क्षण के लिए आनन्द-मग्न होना ही मुक्ति है, जिसकी साधना सरल और स्वाभाविक है, हठयोग की-सी चक्करदार नहीं । मुक्ति के लोभ से अनेक प्रकार की चक्करदार साधना तो बन्धन है—

है सहज मुक्ति का मधु क्षण

पर कठिन मुक्ति का बन्धन ।

वह कहता है कि इस जीवन की तह में जो परमार्थ-तत्त्व छिपा हुआ कहा जाता है, उसे पकड़ने और उसमें लीन होने के लिए बहुत से लोग अंतर्मुख होकर गहरी गहरी डुबकियाँ लगाते हैं; पर मुझे तो उसके व्यक्त आभास ही रुचिकर हैं, अपनी पृथक् सत्ता विलीन करते भय-सा लगता है ।

“सुनता हूँ, इस निस्तल-जल में
रहती मछली मोती वाली,
पर मुझे डूबने का भय है
भाती तट की चल-जल-माली ।

आएगी मेरे पुलिनों पर
वह मोती की मछली सुन्दर,
मैं लहरों के तट पर बैठा
देखूँगा उसकी छवि जी भर ।”

कवि ब्रह्म में लीन हो जाने की कामना नहीं करता । जब जीवात्मा आनन्दस्वरूप हो जायगा तो आस्वाद-सुख की संभावना ही क्या रह जायगी ? प्रयत्न में जितना आनन्द है, उतना प्राप्ति में नहीं । किन्तु जीवन का रहस्य तो उसमें लय हो जाने से ही मिलता है—

“उठ-उठ लहरें कहतीं यह हम कूल विलोक न पावें,
पर इस उमंग में बह-बह नित आगे बढ़ती जावें ।
कँप-कँप हिलोर रह जाती रे मिलता नहीं किनारा
बुद्बुद विलीन हो चुपके पा जाता आशय सारा ।”

रहस्य के आवरण का उद्घाटन तो आत्मा और परमात्मा के सम्मिलन में ही होता है । बुद्बुद अपना अस्तित्व खोकर ही समुद्र से एकाकार होता है । ‘बूँद समानी समुद्र में सो कत हेरा जाय ?’ “जानत तुम्हहिं तुम्हहिं होई जाई ।”

ससीम असीम में मिल कर ही अमरत्व प्राप्त करता है । अपना व्यक्तिगत अस्तित्व गँवा कर ही जीवात्मा विश्वात्मा बनता है । इस संसार में चेतनता की विराट् नदी अविच्छिन्न रूप से प्रवाहित हो रही है । मनुष्य अपने आपको जब इस

विराट् प्राण-धारा से अभिन्न देखता है, तभी उसमें अमरता की भावना जागृत होती है। यह प्राण-धारा तो शाश्वत है, शरीर-नाश होने पर भी इसका नाश नहीं हो सकता। इसी-लिए पंतजी कहते हैं :—

“हे जग-जीवन के कर्णधार ! चिर जन्म-मरण के आर-पार
शाश्वत जीवन-नौका-विहार।

मैं भूल गया अस्तित्व-ज्ञान, जीवन का यह शाश्वत प्रमाण
करता मुझको अमरत्व-दान।”

Rational Mysticism के लेखक ने लिखा है —

“Even the atom is infinite. The real atom, instead of being the smallest of the small, is the largest of the large, for every so-called atom is nothing less in substance than the One substance which is the only thing in the Universe which cannot be divided or cut.”

यह विराट् ब्रह्माण्ड एक विशाल अश्वत्थ वृक्ष की तरह है। जिस प्रकार विशाल वट-वृक्ष के वृहत् अवयव उसके एक छोटे से बीज में निहित हैं, उसी प्रकार विराट् ब्रह्माण्ड के सकल अवयव एकमात्र सूक्ष्मादपि सूक्ष्म अणु में अन्तर्हित हैं। वृक्ष स्थूल पदार्थ है, बीज सूक्ष्म पदार्थ है; इसलिए वृक्ष से लक्ष लक्ष बीजों की उत्पत्ति विस्मयजनक नहीं है किन्तु एक सूक्ष्म बीज की विशाल वट-वृक्ष में परिणति देख कर हम आश्चर्यान्वित हुए बिना नहीं रह सकते। किन्तु सूक्ष्म दृष्टि से यदि हम विचार करें तो हमें ज्ञात होगा कि जो लघुतम है, वही वास्तव में महत्तम है। ‘गुञ्जन’ की निम्नलिखित

पंक्तियाँ बौद्धिक रहस्यवाद के उदाहरण स्वरूप रखी जा सकती हैं :—

महिमा के विशद जलधि में
हैं छोटे-छोटे-से कण,
अणु से विकसित जग-जीवन
लघु अणु का गुरुतम साधन !

जीवन के नियम सरल हैं
पर है चिर-गूढ़ सरलपन;
है सहज मुक्ति का मधु-क्षण,
पर कठिन मुक्ति का बन्धन !

‘गुञ्जन’ और छायावाद

“१९२० के आसपास हमारे साहित्य में जो मंथन अन्दर ही अन्दर हो रहा था, उससे एक मिश्र वृत्तियों का काव्य धीरे धीरे उद्भासित हो रहा था। इसमें निजत्व का स्पर्श था, व्यक्ति की अपनी हृदय-वेदना थी, दुःख की छाया, और इन सब के बीच जो प्रश्न उसके मस्तिष्क पर छा रहा था, उसके कारण एक दार्शनिक उत्कण्ठा थी। कविता का यह वह युग था, जब चिन्ता धाराओं का स्पष्ट विभाजन संभव न था, वट की जटाओं की तरह सब एक में गुँथी हुई थीं। काव्य की इस धारा में अंतश्चेतन की दीप्ति (छाया) का हलका आभास होने के कारण इसे यह नाम दिया गया होगा। कोई कहते हैं इसके विरोधियों ने व्यंग्य एवं उपहासपूर्वक यह नाम रखा यद्यपि बाद में यह नाम छायावादी कवियों ने प्रशंसात्मक दृष्टि से स्वीकृत कर लिया।” ‘मुखमस्तीति वक्तव्यं दशहस्ता हरीतकी’ के अनुसार छायावाद के सम्बन्ध में भी ठीक-बेठीक सभी प्रकार की बातें कही गईं। उदाहरणार्थ

जो कुछ अस्पष्ट, छाया मात्र हो, वास्तविकता का स्पर्श न हो, वही छायावाद है; प्रकृति विश्वात्मा की छाया है, इस लिये प्रकृति को काव्यगत व्यवहार में ले आकर छायावाद की सृष्टि होती है। छायावाद कोरी सौंदर्यवादिता या स्वप्न के संसार की चीज़ है, सामाजिक अथवा राजनैतिक स्थिति की ‘न्यूरोटिक’ प्रतिक्रिया है, छाया-दृश्य (Phantasmata) के अनुकरण पर की जाने वाली रचना है, वेदना के आधार को लेकर चलने वाली स्वानुभूतिमयी अभिव्यक्ति है जिसमें

एक प्रकार की छाया या लावण्य पाया जाता है। मानव-हृदय की अनुभूतियों के चित्रण में सूक्ष्मता पाई जाती है। किसी को उदास मुख-मुद्रा को हम स्थूल आँखों से देख सकते हैं किन्तु भावों का जो दरिया किसी के दिल में हिलोरे मार रहा है, उसका छाया-चित्र ही हम उपस्थित कर सकते हैं, इसी कारण आन्तरिक स्पर्श से पुलकित रचनाओं को छायावाद के नाम से अभिहित किया गया। इस व्यक्त जगत् के परे जो एक अदृश्य छाया प्रति पल अपना झिलमिल रूप दिखाती रहती है, उसने प्रायः हिन्दी के सभी कवियों को अपने अलौकिक रहस्य की मनोमोहकता के कारण प्रबल वेग से आकर्षित किया। इस दार्शनिक आधार को लेकर चलने के कारण छायावाद नाम की सार्थकता स्वतः सिद्ध हो जाती है।

छायावाद अभिव्यक्ति की एक लालची प्रणाली विशेष नहीं है। इसमें एक नूतन सांस्कृतिक मनोभावना का उद्गम है और एक स्वतंत्र दर्शन की नियोजना भी। नूतन जागरूक चेतना, मानसवृत्तियों की सूक्ष्मतर और प्रौढ़तर पकड़, एक विलक्षण अवसाद, विस्मय, संशय और कौतूहल काव्य में छायावाद के उपकरण बनकर आए। इस नवीन प्रवर्तन के मूल में एक स्वातंत्र्य-लालसा, शक्ति की अभिज्ञता और सांस्कृतिक द्वन्द्व की एक अनिर्दिष्ट स्थिति देख पड़ती है। ये सभी एक कल्पना-विशिष्ट दर्शन के अङ्ग बने हुये हैं जिसमें बड़ी व्यापक सहानुभूतियाँ हैं। इस नवीन दर्शन में कल्पना, भावना और कर्मचेतना की सम्मिलित भाँकी है। पूर्ववर्ती काव्य से इसका स्पष्टतः पृथक् अस्तित्व और गहराई है। किसी किसी के मतानुसार कल्पनाशील पलायनवादी साहित्य ही छायावाद है। सुख को खोजना मनुष्य का स्वभाव है। मनुष्य के मन की इस प्रवृत्ति को फ्रायड ने सुख-सिद्धान्त का

नाम दिया है। अपूर्ण आकांक्षाओं की पूर्ति हम कल्पना के रंगीन स्वप्नों द्वारा करते हैं। छायावादी कवियों ने भी यही किया। स्वप्न-लोक एक प्रकार का छाया-लोक ही तो है। आधिभौतिकता के विरुद्ध सौन्दर्य-बोध की जो प्रतिक्रिया हुई उसके फलस्वरूप यह भावना चल पड़ी कि भावुक होने के कारण कवि स्वप्नों में शरण खोज सकता है, जीवन-संघर्ष की कठोर वास्तविकताओं का मुक्ताबिला नहीं कर सकता। जीवन में जो साध विफल हुई, वही गीतों में फूट पड़ी। अपने हृदय की वेदना को भुला देने के लिये ही छायावाद की सृष्टि हुई। आचार्य शुक्ल के मतानुसार “छायावाद का सामान्यतः अर्थ हुआ प्रस्तुत के स्थान पर उसकी व्यंजना करने वाली छाया के रूप में अप्रस्तुत का कथन”। पंत, प्रसाद, निराला आदि प्रतीक-पद्धति या चित्र-भाषा-शैली की दृष्टि से ही छायावादी कहलाये। श्रीमती महादेवी वर्मा के शब्दों में “मनुष्य का जन्म चक्र की तरह घूमता रहता है। स्वच्छन्द घूमते घूमते थक कर वह अपने लिये सहस्र बन्धनों का आविष्कार कर डालता है और फिर बन्धनों से ऊबकर उनको तोड़ने में अपनी सारी शक्तियाँ लगा देता है। छायावाद के जन्म का मूल कारण भी मनुष्य के इसी स्वभाव में हुआ है। उसके जन्म से प्रथम कविता के बन्धन सीमा तक पहुँच चुके थे और सृष्टि के बाह्याकार पर इतना अधिक लिखा जा चुका था कि मनुष्य का हृदय अपनी अभिव्यक्ति के लिए रो उठा। स्वच्छन्द छन्द में चित्रित उन मानव अनुभूतियों का नाम छाया उपयुक्त ही था।” “द्विवेदी कालीन शैली को अगर हम क्लासिक कहना स्वीकार करें तो यह विदित होगा कि क्लासिक से रोमांटिक इस लिए भिन्न है चूँकि पहली श्रेणी के काव्य में प्रत्येक भावना अधिक से अधिक नग्न रूप में मस्तिष्क के

सामने लाई जाती है और उसका वर्णन अत्यन्त सीधे ढंग से किया जाता है, उस पर किसी किसिम का रंग नहीं चढ़ाया जाता। इसके विपरीत रोमांटिक रचनाओं में सभी चीजें किसी रंग बदलने वाले पारदर्शी शीशे के भीतर से दिखलाई जाती हैं तथा रचना के चमत्कार और प्रभाव को तीव्रतम करने के लिए कवि मुख्य विचार के चारों ओर छोटे छोटे रंगीन भावों की ऐसी घटाएँ सज देता है कि कभी कभी मुख्य परिधि भी रंगीनियों के जाल में छिप-सी जाती है। रचना करते समय क्लासिक पद्धति का लेखक अपने आपको काबू में रखता है, लेकिन रोमांटिक कवि उत्तेजना और आवेश में इस प्रकार बहने लगता है कि उसे अपने आप की खबर नहीं रहती। “एक तो आकाश की बातें भी चट्टान पर खड़ा होकर करता है, और दूसरा धरती की बात करते समय भी धरती से दूर ही रहता है मानों वह अपने ही भावों के आलोक में प्रच्छन्न हो गया हो।” *

वस्तुतः द्विवेदी काल की इतिवृत्तात्मकता और नैतिक आदर्शवाद की प्रतिक्रिया स्वरूप हिन्दी काव्य-साहित्य में जो क्रान्ति हुई, सूक्ष्म ने स्थूल के प्रति जो विद्रोह किया उसे ही छायावाद के नाम से अभिहित किया जाना चाहिए।

सन् १८२० से करीब दो दशकों तक छायावाद का प्राधान्य रहा। छायावाद के नामकरण में चाहे जो हेतु रहा हो, छायावादी काव्यों के आधार पर हम इस काव्य-धारा की निम्नलिखित विशेषताओं की ओर निर्देश कर सकते हैं — १. प्रतीक-पद्धति, २. पलायनवादी प्रवृत्ति, ३. आत्माभिव्यंजन, ४. नियन्त्रण का अभाव, ५. प्रकृति का आलम्बन के

रूप में वर्णन, ६. वर्तमान से असंतोष, ७. स्वर्णिम अतीत के प्रति प्रेम, ८. 'उस पार' की अभिलाषा, ९. लाक्षणिक वक्रता और ध्वन्यात्मकता (मानवीकरण, विशेषण विपर्यय आदि का प्रचुर प्रयोग), १०. बेदना का प्राधान्य, ११. मानवता का महत्त्व, १२. निगूढ़ता, १३. प्रकृति में चेतनता का आरोप ।

गुंजन को किस अंश तक छायावादी रचना कहा जाय, यही प्रस्तुत विषय है । कहा जाता है कि 'युगान्त' तक के पंत छायावादी हैं, युगान्त वास्तव में छायावादी युग का ही अन्त है । युगान्त के पहले की रचना होने के कारण समीक्षकों के मतानुसार गुंजन छायावादी रचना है । किन्तु इस सम्बन्ध में एक बात की ओर ध्यान आकर्षित करना आवश्यक जान पड़ता है । 'वीणा', 'ग्रन्थि' और 'पल्लव' का कवि 'गुंजन' का कवि नहीं है । गुंजन के दृष्टिकोण में स्पष्टतः परिवर्तन लक्षित होता है । कवि के ही शब्दों में "मैं पल्लव से गुंजन में अपने को सुन्दरम् से शिवम् की भूमि पर पदार्पण करते हुए पाता हूँ । गुंजन में मेरी वहिर्मुखी प्रकृति, सुख दुख में समत्व स्थापित कर, अंतर्मुखी बनने का प्रयत्न करती है । यदि मेरा हृदय अपने युग में बरते जाने वाले आदर्शों के प्रति विश्वास न खो बैठता तो मेरी आगे की रचनाओं में भी हार्दिकता पर्याप्त मात्रा में मिलती । जब वस्तु जगत के जीवन से हृदय को भोजन अथवा भावना को उद्दीप्ति नहीं मिलती तब हृदय का सूनापन बुद्धि के पास, सहायता माँगने के लिए पुकार भेजता है —

‘आते कैसे सूने पल, जीवन में ये सूने पल’

.....

‘खो देती उर की वीणा भंकार मधुर जीवन की’
 आदि उद्गार गुंजन में आये हैं। गुंजन से पहले जबकि मैं परिस्थितियों के वश अपनी प्रवृत्ति को अन्तर्मुखी बनाने के लिए बाध्य नहीं हुआ था, — मेरे जीवन का समस्त मानसिक संघर्ष और अनुभूति की तीव्रता ‘ग्रन्थि’ और ‘परिवर्तन’ में प्रकट हुई है। तब मैं प्राकृतिक दर्शन से अधिक प्रभावित था और मानव-जाति के ऐतिहासिक संघर्ष के सत्य से अपरिचित था। गुंजन और ज्योत्स्ना में मेरी सौन्दर्य-कल्पना क्रमशः आत्म-कल्याण और विश्व-मंगल की भावना को अभिव्यक्त करने के लिए उपादान की तरह प्रयुक्त हुई है।” जब से प्रगतिवाद की विशेष चर्चा होने लगी है तब से पलायनवादी प्रवृत्ति (जो छायावाद की एक प्रमुख विशेषता मानी गई है) के विरुद्ध विद्रोह का स्वर सुनाई पड़ने लगा है। किन्तु गुंजन का कवि जीवन-संघर्ष से दूर भागने का आदेश नहीं देता, गुंजन में जीवन का जलनिधि डोल-डोल कलकल छल-छल किलोल करता हुआ सुनाई पड़ता है। गुंजन को जीवन-काव्य कहना ही सर्वथा उपयुक्त होगा। यदि गुंजन जैसे गीति-काव्य के लिए किसी नायक की कल्पना की जा सकती है तो जग-जीवन ही मानो गुंजन का नायक कहा जायगा। हाँ, इस काव्य में ‘अप्सरा’ और ‘भावी पत्नी के प्रति’ जैसी कुछ कविताएँ अवश्य हैं जिनमें कल्पना की सुन्दर सृष्टि की गई है और जिनको हम कवि की अतृप्त इच्छा की पूर्ति स्वरूप भी रख सकते हैं। इसलिये गुंजन को जो एकान्त छायावादी काव्य मानते हैं उनको कवि की विचार-धारा का अनुशीलन करना चाहिए।

“पुराने आर्थिक ढाँचे के टूटने के बाद हमारे समाज में जैसा वर्गीकरण हुआ और नये वर्गीकरण के कारण जो व्यव-

स्था बनी उसमें हमारे कवियों की सौन्दर्योपासना और अनंत और असीम के प्रति अनुराग के लिए जगह नहीं थी। गुंजन की फूल-सी फूलवाली बेचारी व्यर्थ ही चिल्लाती रही—

लाई हूँ फूलों का हास,
लोगी मोल, लोगी मोल ?

लेकिन फूलों के हास के खरीदार इस बाज़ार में कहाँ थे ! कविता का कान्त-कुसुम न मुरझाता तो करता क्या ? जब सब कुछ विषण्ण हो रहा था, हमारे कवि किस वस्तु को अलुण्ण समझते ?

भर गये हाय, तुम कान्त कुसुम !
सब रूप रंग दल गये बिखर,
रह सके न चारु चिरन्तन तुम,
जीवन की मधुस्मिति गई बिखर !”

किन्तु कुछ समीक्षकों का कहना है कि पलायनवादी प्रवृत्ति के विरुद्ध यदि पंतजी कभी आवाज़ उठाते हैं तो इसका कारण है युग-धर्म की बौद्धिक प्रतिक्रिया । हृदय से वे पलायनवादी ही हैं । किन्तु इस में सन्देह नहीं है कि पंतजी की वृत्ति अंतर्मुखी है और यह निश्चित है कि अंतर्मुखी वृत्ति वाला कवि भावनाओं के मोहक जाल में चिरकाल तक फँसा नहीं रह संकता । गुंजन वास्तव में छायावाद और प्रगतिवाद के संक्रान्ति काल की रचना है । इस काव्य में युग-धर्म से सम्बन्ध रखने वाले विचार भी स्थान स्थान पर व्यक्त हुए हैं ।

‘मानव जग में बँट जावे
दुख सुख से औ’ सुख दुख से ।’

यदि पलायनवाद छायावाद की आत्मा है तो इस प्रकार का छायावाद गुंजन में नहीं है। हाँ, प्रतीक-पद्धति की दृष्टि से गुंजन अवश्य ही छायावादी रचना है। रुमस्त काव्य ही प्रतीक पर आश्रित है। भ्रमरों के गुंजन का वर्णन कवि को अभीष्ट नहीं है। जय वह कहता है —

बन-बन, उपवन —

छाया उन्मन उन्मन गुंजन,
नव वय के अलियों का गुंजन !

तो क्या अंतिम पंक्ति में नवोदित छायावादी कवियों की ओर स्पष्ट संकेत नहीं किया गया है ? छायावाद की प्रतीक-पद्धति में बाह्य पदार्थ किसी आभ्यन्तर सूक्ष्म की छाया या संकेत मात्र होते हैं। पदार्थों के बाह्य रूप का स्वतः कोई महत्त्व नहीं। छायावादी कवि लहरों के कम्पन और उतार-चढ़ाव में अपने ही हृदय की आशाओं-अभिलाषाओं को प्रति-ध्वनित होते हुए पाता है। वह बाह्य वस्तुओं का आश्रय लेकर ही मानव-जीवन का निदर्शन करता है। गुंजन के प्रतीक को हम निम्नलिखित ढंग से स्पष्ट कर सकते हैं —

भ्रमर = कवि के प्राण अथवा मन का प्रतीक।

सागर = हृदय।

मधु = जीवन का उल्लास, आशावाद या मधुमय निष्कर्ष।

लहरियाँ = क्षण क्षण में विलीन होने वाली और उठने वाली इच्छाएँ।

‘गुंजन’ भ्रमरों का गुंजन नहीं, कवि के ‘प्राणों की उन्मन गुंजन मात्र’ है। भ्रमरों के गुंजन में उन्मनता का अनुभव किसने किया है ? यहाँ पर या तो कवि अपनी उन्मन भावना

का आरोप भ्रमरों पर करता है अथवा प्रतीक-पद्धति का आश्रय लेकर हम यह कह सकते हैं कि मधु के लिए पुष्प के पास गूंजने वाला भ्रमर मानो मानव-मन है जो यद्यपि आशा के उल्लास में मादक नर्तन करता है किन्तु फिर भी वह भविष्य की आशाओं-आकांक्षाओं के लिये उन्मन अथवा बेचैन भी रहता है।

गुंजन की बहुत-सी कविताएँ सांकेतिक हैं। सांकेतिक अर्थ को ग्रहण किये बिना कुछ भी समझ में नहीं आता। 'भर गई कली' में प्रकृति द्वारा जीवन-तत्त्व का ही निदर्शन किया गया है।

आचार्य शुक्ल के शब्दों में "विहग के प्रति" नाम की कविता में कवि ने अव्यक्त प्रकृति के बीच चैतन्य के सान्निध्य से, शब्द-ब्रह्म के संचार या स्पन्दन से सृष्टि के अनेक रूपात्मक विकास का बड़ा ही सजीव चित्रण किया है।" पक्षी जिस प्रकार अपने पंख फैलाकर आकाश में उड़ता है उसी प्रकार कवि भी कल्पना के उन्मुक्त पंख फैलाकर व्यामविहारी बनता है; पक्षी जिस प्रकार अपने कलरव से आकाश की शून्यता को ध्वनित कर देता है, उसी प्रकार कवि भी जगत् की रिक्तता को मनोहर गीत गा गाकर ऐसे मधुर जीवन की मादकता से भर देता है जो अभी तक अज्ञात पड़ा था; कवि ही उस अज्ञात जीवन का अनुभव सबको कराता है। पक्षी से कवि तादात्म्य स्थापित कर लेता है।

कहीं कहीं पंतजी तत्त्व-निरूपण करने लगते हैं जैसे

‘आत्मा है सरिता के भी’

इस प्रकार के पद्यों में प्रतीकवाद यथावत् नहीं मिलेगा।

आत्माभिव्यंजन, प्रकृति का आलम्बन के रूप में चित्रण, वर्तमान से असंतोष (चाहिए विश्व को नव जीवन), लाक्षणिक वक्रता और ध्वम्यात्मकता, मानवीकरण, विशेषण विपर्यय आदि, बेदना की प्रधानता, निगूढ़ता, मानवता का महत्त्व आदि छायावाद की विशेषताएँ गुञ्जन में अनायास ही मिल जायँगी। विस्तार-भय से यहाँ उदाहरण नहीं दिये जा सकते। किन्तु गुञ्जन का कवि 'उस पार' के स्वप्न नहीं देखता। 'शांति सुख है उस पार' की राग अलापने वाला 'पल्लव' का कवि 'गुञ्जन' में कहता है—

छोड़ निर्जन का निभृत निवास
नीड़ में बँध जग के सानन्द

.....

मनन कर मनन शकुनि नादान

.....

जग-जीवन में उल्लास समझे।

इसलिए जो 'उस पार' को ही छायावाद समझे बैठे हैं, उन्हें गुञ्जन में वैसा छायावाद न मिलेगा।

बापू-विमर्श

The man that hath no music in himself
Nor is moved with concord of sweet sounds,
Is fit for treason, stratagems and spoils,
The motions of his spirit are dull as night.
(Shakespeare)

श्री सियारामशरण गुप्त का 'बापू' कवि की अन्तरात्मा का संगीत है और कोई भी सहृदय व्यक्ति इस कृति की संगीतात्मकता से प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकता। गुप्तजी शुद्ध मानवता के कवि हैं, इसलिए मानवता के प्रतीक उस महात्मा से घुल-मिल कर एकाकार होने में उनकी आत्मा तल्लीन है। कवि को इस रचना में वस्तुतः मानवता ही भ्रूंकृत हुई है। सच्चा गीति-काव्य केमरे के लैन्स की तरह कवि के मानस का चित्र उतार लेता है। श्री सियारामशरण के बारे में यदि हम कुछ भी न जानते हों तो भी केवल 'बापू' पढ़ कर ही हम उनके अन्तःकरण की झलक पा जायेंगे। यदि आन्तरिक भावों का स्पष्ट प्रकाशन ही गीति-काव्य का प्रधान लक्षण है तो निःसन्देह 'बापू' एक उत्कृष्ट गीति-काव्य है। इस काव्य में ऐसे अनेक मर्मस्पर्शी स्थल हैं जहाँ पाठकों के उर की वीणा भ्रूंकृत हो उठती है, जहाँ वे रसमग्न हो जाते हैं। बापू के प्रति पाठकों की श्रद्धा में अन्तर होने से संभवतः रसानुभूति में भी अन्तर हो सकता है किन्तु कवि ने अपने आप को इतने सच्चे रूप में उपस्थित किया है कि उसका प्रभाव पड़े बिना नहीं रह सकता। बापू को भी कवि सच्चे

रूप में रख सका है या नहीं, यह प्रश्न उठाया जा सकता है। प्रभु का सच्चा रूप क्या है, यह तो प्रभु ही जाने; भक्त तो अपनी भावना के अनुसार ही उसे देखता है। इस काव्य में बापू के दिव्य और अलौकिक गुणों का ही आख्यान है जिनका उपयोग मानवता की रक्षा के लिए हुआ है।

“हिन्दी में गीति-काव्य की परम्परा यों तो बहुत पुरानी है। विद्यापति, सूर और मीराँ के भाव-प्रवण गीत हिन्दी साहित्य में अमर रहेंगे किन्तु हिन्दी साहित्य पर पाश्चात्य और बँगला साहित्य का जो प्रभाव पड़ा, उससे लिरिक (Lyric) की शैली पर गीत लिखे जाने लगे। अंग्रेज़ी रसाचार्यों की दृष्टि से गीति-काव्य की आत्मा है भाव, जो किसी प्रेरणा के भार से दब कर एक साथ गीति के रूप में फूट निकलता है।” ‘बापू’ के गीत लय पर चलते हुए मालूम पड़ते हैं। कृष्ण और राम जैसे लोकनायकों को लेकर सूर और तुलसी जैसे भावुक भक्तों ने कथा का आश्रय लेकर भी श्रेष्ठ गीति-काव्य की उद्भावना की है किन्तु ‘बापू’ जैसा मुक्तक काव्य हिन्दी साहित्य में दूसरा नहीं है। गाँधी को अपने काव्य का आलम्बन बनाकर कवि ने अपने भावोच्छ्वासों को शुद्ध सच्चे रूप में पाठकों के सम्मुख रखा है। बीस उच्छ्वासों में बापू का गुणगान करके २१वें उच्छ्वास में कवि संतोष की साँस लेता है किन्तु गिने गिनाये २१ साँस लेकर बापू को समाप्त थोड़े ही किया जा सकता है। ‘कम क्या, कम क्या, कम क्या इतना’ कहकर सियाराम-शरण का काव्य-पुरुष आश्वस्त होता है और अपनी इसी कृति से उसे सर्वाधिक संतोष है जैसा कवि के निम्नलिखित शब्दों से व्यक्त होता है :—

“अपनी किस रचना को विशेष महत्त्व देता हूँ, यह मुझी से पूछते हैं ? जब जिस चीज़ को लिखता हूँ तब वही मुझे बहुत अच्छी जान पड़ती है। बाद में अच्छी तरह याद भी नहीं रहता कि उसमें कैसी और क्या अच्छाई थी। शायद अभी तक मैं अपनी सर्वश्रेष्ठ कृति लिख ही नहीं सका हूँ। फिर भी कविता में सबसे अधिक आत्म-तुष्टि मुझे ‘बापू’ से हुई है।”

एक एक उच्छ्वास एक-एक भाव को पिरोये हुए है। बापू रूपी विराट् तीर्थ के विपुल सलिल की गहराई में जाकर चाहे कवि की गगरी मुक्ताफल न ला सकी हो, किन्तु काव्य-रसिक के लिये यह कृति मंजु मुक्ताहार के रूप में सुशोभित है। ‘बापू’ के प्रत्येक उच्छ्वास का यदि विश्लेषण किया जाय तो उससे भाव की एकसूत्रता सहज ही सिद्ध की जा सकती है। पहले उच्छ्वास में यदि भाव-प्रवण जनता का समुज्ज्वल चित्र है तो दूसरे उच्छ्वास में प्रतीक्षोत्सुक शताब्दियों का अद्भुत दृश्य उपस्थित किया गया है। कवि के समस्त उच्छ्वासों का आलम्बन चूँकि एक ही व्यक्ति है, इसलिये सम्पूर्ण काव्य में ही एक सुगठित एकता है जो सब उच्छ्वासों को अन्वित किये हुए है। प्रत्येक उच्छ्वास में एक हो भावना अविच्छिन्न रूप से प्रवाहित है।

‘बापू’ के गीतों में शब्दों का अपव्यय नहीं है; कवि की प्रौढ़ कृति होने के कारण वैसे भी थोड़े में बहुत कह दिया गया है। किसी गीत में अनावश्यक विस्तार नहीं है। आकार की दृष्टि से १५वाँ गीत (जिसमें सत्याग्रही के आत्मबलिदान का गौरव-गान किया गया है) तथा १६वाँ गीत (जिसमें भारत-माता की विश्व-माता के रूप में कल्पना की गई है)

अपेक्षाकृत बड़े हैं किन्तु ये गीत और भी अधिक मर्म-स्पर्शी बन पड़े हैं। १५वें गीत में जहाँ कवि की हार्दिकता फूट पड़ती है

‘कवि रे, अरे, क्यों आज तेरे नेत्र गीले ये,
तेरे स्वर तार सभी ढीले ये ?’

वहाँ वास्तव में इस कविता का गीति-तार छिन्न-भिन्न होकर ढीला नहीं पड़ता। जिस वेदना-व्यथा से कवि व्यथित है, उस वेदना की कसक राग को और भी संगीतमय बना देती है।

यह तो सच है कि गीति-काव्य में कवि के भाव-प्रवण हृदय का चित्रण रहता है किन्तु जिन गीतों में कोरी भावुकता रहती है वे चिरकाल तक नहीं जीते। जिनमें हृदय-तत्त्व के साथ बौद्धिक और दार्शनिक तत्त्व मिला होता है, उन्हीं गीतों की छाप लोक-मत के अन्तर्पट पर चिर अङ्कित रहती है। ‘बापू’ के कवि की श्रद्धा कोरे भावुक कवि की श्रद्धा नहीं, वह दार्शनिक कवि की श्रद्धा है। इस काव्य में दार्शनिक तत्त्वों का कई स्थानों पर चित्रण हुआ है

“अन्त ! अरे कौन कहाँ कैसा अन्त ?

श्री गणेश यह है नवीन के सृजन का,

आद्यक्षर नव्य भव्य जीवन का,—

नाश नहीं जीवन का

बीज उसमें है चिरन्तन का;

हिंसा के उपद्रव से सम्भव विनाश नहीं नर का,

अमृत पिये है वह, आत्मज अमर का।”

१८वें गीत में कवि का देश-प्रेम बड़े सुन्दर रूप में व्यक्त हुआ है किन्तु यह देश-प्रेम संकुचित नहीं है, यह अन्तर्राष्ट्रीय

रूप धारण करने के लिए आकुल है। गाँधी जी महानता के प्रतीक हैं और गाँधीवाद इस महानता का पोषण करने वाला संगठन। भारत का यह सौभाग्य है कि उसे हिमालय-सा महान् रक्तक, गङ्गा-सी महती माता (देश, अरे मेरे देश, तेरी उच्चता में दृढ़ है नगेश, मन की पवित्रता में गङ्गा की लहर है) और वस्तु जगत् से बहिष्कृत सत्य को पाने के लिए काव्य निर्माण करने वाले कवि मिले। महानताओं के इस क्रम का चरम विकास हुआ है गाँधी जी में— वस्तु जगत् से बहिष्कृत सत्य जैसे फिर धरती पर उतर आया है और यह सौभाग्य भारत को प्राप्त है।

‘तेरे धरा धाम-मध्य निर्मलिन

आज का नवीन दिन

लाया है प्रफुल्लित प्रकाश गिरा।’

इस मुक्तक काव्य को पढ़ते समय कवि की काव्य-प्रतिभा का आतंक पाठक पर छा जाता है और वह ज्यों ज्यों इसके अर्थ को हृदयंगम करता जाता है त्यों-त्यों उसके अन्तःकरण में आनन्द की एक लहर-सी उठती है; एक प्रकाश-किरण का सा उसके हृदय को स्पर्श मिलता है।

‘बापू’ की शब्द-योजना सरल नहीं है, सामान्य पाठक के लिए बोधगम्य भी नहीं। स्वयं बापू को भी इसे समझने के लिए शायद कोश की शरण लेनी पड़े। भाषा क्लिष्ट होते हुए भी उसमें अस्पष्टता नहीं है। किन्तु नारियल में जिस तरह ऊपर जटा, फिर कड़ा कोश और नीचे ही नीचे गिरी मिलती है, उसी तरह बापू-तत्त्व को समझने के लिए गहराई में जाना होगा।

कवि के हृदय को गाँधी दर्शन से प्रबल प्रेरणा मिलती है। मानवता के इस कवि को 'बापू' में मानवता की चरम अभिव्यक्ति दिखलाई पड़ती है। इसलिए वह अतिशयोक्ति का आश्रय लेकर भी अपने उच्छ्वासों को गीतों का रूप देता है। ओड (Ode) के ढंग की संबोधन-पद्धति और विषय की गरिमा प्रायः सर्वत्र देखने को मिलेगी।

‘जन्मजात उच्च स्वर्ग कुल के,
मर्त्य-कुलशाखा में हुए हो गोद सप्रमोद’

*

*

*

‘आत्ममणि का-सा पारदर्शी पात्र,
दृष्टि हेतु गात्र उपलक्ष मात्र,
भीतर की ज्योति से छलकता;’

बापू का चरित स्वयं ही एक काव्य है। एक विदग्ध कवि के लिए उसमें से भाव-राशि का चयन करना सहज संभाव्य है। प्रथम विन्दु में प्रतीक्षोत्सुक जनता की भावना का सुन्दर चित्रण है।

“गूँज उठा जै जैकार
फिर फिर दूर तक आर पार.....”

दूसरे विन्दु में अद्भुत रस छलक रहा है। शताब्दियाँ एक संग स्थित हैं— “नूतन शताब्द-शिशु-हेतु वे सभी अशान्त।” इतने युगों के बाद नूतन शताब्द-शिशु ने जन्म ग्रहण किया है। ठीक भी है, बापू जैसा नर-रत्न शताब्दियाँ बाद इस धरा पर अवतीर्ण होता है।

तीसरा विन्दु और भी अद्भुत है। आगे की शताब्दियाँ गवाक्ष खोल कर भविष्य के निकेतन में से झाँक झाँक कर

देख रही हैं और कान लगा कर सुन रही हैं। बापू का उदात्त स्वर भविष्य की शताब्दियों को भी सुनाई पड़ रहा है। वे आश्चर्य से हैरान हैं कि यह कैसा अद्भुत अलौकिक स्वर है ! इतने दूर से आ रहा है और फिर भी इतना पास-पास-सा लगता है ! बापू की दृष्टि में कितनी दूरदर्शिता है ! उसकी सत्य-अहिंसा का गीत देश-काल की सीमाओं का उल्लङ्घन कर सर्वव्यापी हो रहा है ।

“यह स्वर डूबा नहीं, डूबा नहीं

दूरी के अनन्त सिन्धु जल में”

बापू विभु का वरदान है। वह बिना प्रयास हमें प्राप्त है। जो हमारे सामने सूर्य की रोशनी की तरह प्रत्यक्ष है उसकी शक्ति का अनुमान हम नहीं लगा सकते। “होता नहीं रंच परिमाण-मान; वह है दिवा-विभास हमको !” “यह बात सच है कि मनुष्य जब तक हमारे पास से दूर नहीं जाता, तब तक उसके मूल्य को सम्पूर्ण भाव से हम उपलब्ध भी नहीं कर पाते। सूर्य-चंद्र का आकार गोल है— यह बात दूर होने से ही हम समझ पाते हैं। पृथ्वी भी तो वैसी ही गोल है, किन्तु निकट होने के कारण हम उसकी बन्धुरता ही देख पाते हैं, उसके वर्तुलाकार को समझ नहीं पाते। इसी तरह मनुष्य जब तक हमारे बीच जीवित रहता है, तब तक हम उसके जीवन की समग्रता को ठीक पकड़ नहीं पाते।”

भयंकर से भयंकर परिस्थितियों में भी बापू अचल हैं; वे पर्वतराज हिमालय की तरह अडिग हैं। कुछ रौद्र चित्र देखिये :—

“भ्रंभावात आते हैं प्रचण्ड रोष गति से, मुक्त असंयति-से,
उच्चशीर्ष कितने महीरुहों को जड़ से पकड़ पकड़के

ऊपर उछाल कर धूलि खिला जाते हैं निम्न भूमितल की।”

*

*

*

“खस खस पड़ते समुन्नत महीध्र शृंग,
अचला के अङ्ग में लिपटते;
करके प्रवाह-भङ्ग नित्य मार्ग में से नित्यनीर नद हटते
उच्च हर्म्य हेम धाम छिपते उजाड़ में नगर-ग्राम;
चाहते अशान्त-उर विस्तृत सुनीरनिधि
कौन विधि ओट लें सपाट मरुस्थल की।”

न जाने कौन से अतल की शान्ति इस मनस्वी को प्राप्त है। ऊपर अप्रस्तुत भूमिचाल के वर्णन द्वारा देश की राज-नैतिक हलचल की ओर संकेत किया गया है। “कम्पन-विभीति तुम्हें एक भी न झलकी।”

बापू को ‘इन्धन-रहित शुद्ध अग्नि-ज्वाल’ कहा गया है। निम्नलिखित पद्य में शृंगार की झलक लिये हुए हास्य का पुट भी है :—

नित्य के अनंग की अरुणिमा,
आकर तुम्हारी हुई अपनी तरुणिमा !

उस परिणीता से,
पुण्य की प्रतीति-भरी प्रीता से,
वय की दुरन्त झकझोर-झोर
छुड़वा सकी कहाँ तुम्हारा छोर ?

वृद्ध पुरुष को युवती स्त्रियाँ छोड़ देती हैं। ‘पुरुष पुरातन की वधू क्यों न चंचला होय ?’ किन्तु नित्य के अनंग की अरुणिमा से बापू का परिणय हुआ है और इस वृद्धावस्था में भी वह बापू के अंचल को पकड़े हुए है !

बापू ने अपनी व्यष्टि को समष्टि में लीन कर दिया है। वह दिव्य है और मर्त्य कुल शाखा में ख़ूशी ख़ूशी गोद आया है। देही होते हुए भी वह विदेह है, गेही होते हुए भी वह अगेह है। धन्य है वह सीपी जिसने बापू जैसा मोती पैदा किया !

“ये न नारियाँ सीपियाँ जिनका मोल न तोल
ना जाने किस कोख में छिपा रत्न अनमोल।”

“भूतल की शुक्ति यह हलकी
एक बड़ी बूँद किसी पुण्य-स्वाति जल की
दुर्लभ सुयोग जन्य
प्राप्त कर तुम में हुई है धन्य धन्य धन्य !”

न जाने कौन से दुर्लभ सुयोग से बापू जैसा धरा का लाल पैदा हुआ है !

“बापू के चित्र का वैक ग्राउण्ड लाल काला है; उसके पीछे दृश्य है कारागार का, हिंसा-क्षेत्र का। उस रौद्र और वीभत्स को प्रकाशित करती हुई बापू की सात्विक शान्त मूर्ति अवतरित होती है। चित्र सजीव हो उठता है। यहाँ कवि ने बाह्य का वर्णन न करके अन्तर अथवा उसके प्रभाव का अंकन किया है।” इस विन्दु में कारागार का मर्मस्पर्शी वर्णन है जो भावों को उद्वेलित करता है। “भय का अवाक रोर घोर घनीभूत हुआ उनमें जड़ित है।” सब ओर निस्तब्धता है, आतंक और भय के कारण रोर अवाक हो गया है। यह कारागार कोई तृष्णातुर अंधकूप है जो दीन हीन मानव के सत्य-शील को लील लेगा। किन्तु

‘भीति का कठोरातङ्क टूट गया स्पर्श से तुम्हारे एक पल में।’

देश में राजनैतिक चेतना जागृत कर निर्भयता का मंत्र फूंक देना बापू की सब से बड़ी देन है। 'संजीवनी विद्या है प्रकाशित अभय में।' बापू की कृपा से कारागार आज देवगृह हो गया है।

एवें विन्दु में मानव की पाशविकता का चित्रण है। एक राष्ट्र किस तरह दूसरे राष्ट्र को पददलित कर साम्राज्यवाद की करालमुखी तृष्णा का शिकार हो रहा है इसका भावपूर्ण काव्यमय वर्णन है। यह वर्णन है भी कितना सामयिक !

“जाती है समुद्र ग्रास करने को स्थल से,
और फिर छिप के अतल से
बढ़ती है ऊपर अनन्त शून्य पथ में
आरूढ़ा महा विनाश-रथ में
बरसा रही है प्रज्वलन्ताङ्गार;
कैसा घोर हाहाकार !”

बापू में सब काल और देश की विभूतियों का समन्वय है। उसे हरिश्चन्द्र की अटलता, श्री प्रह्लाद की भक्ति-समुज्ज्वलता, कृष्ण का निष्काम ज्ञान-कर्म योग, भीष्म की अनूठी ब्रह्मचरता, बुद्ध का परमार्थ-भाग, ईसा का नरानुराग, महावीर का हिंसा-त्याग, मुहम्मद की दृढ़ता, नरसी की पराई पीर, रामचरितमानस की धवलता, टाल्सटाय का प्रेम-प्रति-रोध विरासत में मिला है। महात्मा गाँधी की सुप्रसिद्ध जीवनी में प्रकारांतर से यही बात रोम्याँ रोलां कह रहे हैं :—

“His principle of Ahimsa (non-violence) has been inscribed in the spirit of India for more than two thousand years. Mahavira, Buddha and the cult of Vishnu have made it the subs-

tance of millions of souls. Gandhi has merely transfused heroic blood into it. He called upon the great shadows, the forces of the past, plunged in mortal lethargy, and at the sound of his voice they came to life. In him they found themselves. He incarnates the spirit of his people. Blessed the man who is a people, his people entombed, and then resuscitated in him !” (Romain Rolland)

धरित्री में जागृति का मांगलिक सुप्रभात हुआ है। बापू का सत्य और अहिंसा के रूप में जो उदार दान है वह फल कर समस्त भुवन का हो जाय, यही कवि की अन्यतम इच्छा है।

भारत माता की विश्वमाता के रूप में कल्पना की गई है। विश्व भर का दुःख शोक ताप इसके भीतर उमड़ा-सा आता है। हिंसा की अग्नि में जलते हुए विश्व माता के लाल मानव को बचाने के लिए एक लाल पैदा हुआ है जो गति में दुरन्त वेग भरके हिंसानल के बर्चों बीच अपने सिद्धान्तों का प्रयोग कर रहा है और सबकी यही कामना है

“अन्त ही लौटे वह होकर सफल काम।”

‘बापू’ का अंतिम गीत एक सुन्दर भाव-चित्र है; संगीत की दृष्टि से भी मह-वपूर्ण है। छन्द में परिवर्तन है, शैली की विभिन्नता है, कवि का इसमें आत्माभिव्यंजन है।

रौद्र— भयानक निम्नलिखित दृश्य भी दर्शनीय है—

“कैसी कुपिताएँ ये अनल शिखाएँ, लुधिताएँ ये

मिट्टी ईंट-चूना तक चाटने को टूट पड़ीं

सन्न निरुपाय खड़े देख रहे जन हैं;

भय से विषण्ण मन, दाह-दग्ध तन हैं।”

शांत-रस के तो अनेक चित्र अनायास ही मिल जायेंगे।

भाषा और शैली

इस काव्य की ओजस्विनी भाषा का प्रवाह कहीं भी मंद नहीं पड़ा है। वह उत्साह और स्फूर्ति जिससे प्रेरित हो कर कवि काव्य-रचना में प्रवृत्त हुआ था, अंत तक अक्षुण्ण है। 'बापू' में शायद ही कोई शिथिल पंक्ति मिल सके। 'बापू' कवि की प्रौढ़ता की वाणी है। भाषा उक्ति-वैचित्र्यपूर्ण, सारगर्भित एवं लाक्षणिकता लिये हुए है। कहीं-कहीं भाव-गांभीर्य शब्दों की परिधि को पार कर के बहुत आगे बढ़ गया है। जैसे छोटे-से क्षितिज, बाहर-विहीन, अवाक रोर आदि। 'बापू' की कुछ पंक्तियाँ तो इतनी सुन्दर हैं कि शायद कहावतों के रूप में चल पड़ें। उदाहरणार्थ— 'आज के अपत्य तुम कल के जनक हो।' 'मृत्यु के निकेत पर जीवन का पुण्य केतु।' 'संजीवनी विद्या है प्रकाशित अभय में।' भाषा सर्वत्र भावानुगामिनी रही है। उसमें लय का बल और गति का वेग है। उसमें रौद्र और वीभत्स की कठोरता तो है ही, उपयुक्त स्थल पर शांत रस की स्वच्छता और प्रसन्नता भी है। 'मुक्ति बीज फूट पड़ा बाहर है, लाली लिये ले रहा लहर है।' कवि ने लय के लिए पुनरावृत्ति और तुकांत शब्दों की सहायता ली है। यथा—

‘फिर फिर दूर तक आर पार ………’

‘यह स्वर डूबा नहीं, डूबा नहीं ………’

कवि को अपने शब्दों के लिए संस्कृत के अक्षय भाण्डार की शरण लेनी पड़ी है। संभवतः संस्कृत शब्दों की सहायताके बिना वह अपने हृद्गत भावों की सफल व्यंजना न कर सकता। उसने देव-वाणी का अधिकतर आश्रय लेकर देवोपम 'शुद्ध बुद्ध आत्मा केवल' बापू के प्रति अपनी श्रद्धांजलि अर्पित की है। इस काव्य में तत्सम शब्दों का प्रचुर प्रयोग है। लम्बे-

लम्बे संस्कृत समासों का भी अभाव नहीं है। हेम-हीर-मणि-मुक्ता-हार, रजनि-उपान्त-निभ, अतन्द्र-प्रेम-प्रियता, ज्ञान-गरिमा-विशिष्ट, नूतन-शताब्द-शिशु-हेतु, प्रेम-कुल्ल-पुष्प-मालाएँ, स्वर्ण-लाभ-योग आदि। किन्तु शुद्ध संस्कृत पदावली के साथ साथ 'उछाह, लूट-पाट, खर्व, खस-खस गिरते, हाँप-से उखड़ते' आदि साधारण शब्दों का भी प्रयोग हुआ है। 'बैर मोल लेकर लड़ेगा', 'बाट जोहती थीं', 'धर के तुम्हारे वे चरण-चिह्न' आदि मुहावरे भी यत्र तत्र बिखरे पड़े हैं। 'चलाचल' शब्द का प्रयोग बहुत सुन्दर है। कहीं-कहीं अनुकरणात्मक शब्दों के प्रयोग से शब्दों द्वारा ही अर्थ ध्वनित हो जाता है—

“हो उठी पयोद घटा गहरी,
एक साथ बिज्जु-छुटा-छहरी,
वायु बही सर-सर, काँप उठे वन्य वृक्ष थर-थर
सहसा अकाल वृष्टि घन घन घहरी।”

* * * *

“धधक उठी है अरे, धधक उठी है आग !
धाम वह धँय-धाय,
धूम का गुँगाटा भरे भाँय-भाँय।”

* * * *

“कल कल्लोलित धारा पाकर तट पर ही यह तरी तरी।”

पृथुल, अजस्र, ध्वांत, हर्म्य, उत्स, आवर्जन, अतंद्र, तमिस्र, असंयति आदि शब्दों का प्रचुर प्रयोग होने से संस्कृतज्ञ पाठक ही 'बापू' का सम्यक् रसास्वादन कर सकेंगे। हाँ, यह अवश्य है कि बँगला, मराठी आदि प्रान्तीय संस्कृत-बहुला भाषाओं के पाठकों के लिए 'बापू' अवश्य ही सहजगम्य हो सकेगा। इस काव्य की भाषा संस्कृत-प्रधान व्याकरण-सम्मत

खड़ी बोली है। कहीं-कहीं 'उछाह' आदि शब्दों का प्रयोग प्रभाव-वृद्धि के लिए किया गया है। 'कुपिताएँ अनल-शिखाएँ लुधिताएँ' में विशेषण शब्दों का भी बहुवचनांत रूप प्रयुक्त हुआ है जो प्रसंगानुकूल फिट बैठने से अच्छा लगता है। 'आई अहा ! मूर्ति वह हँसती !' में 'मूर्ति' शब्द स्वयं एक मूर्ति लाकर आँखों के सामने खड़ी कर देता है। भाषा पर काव्य का आधिपत्य है। 'बापू' में गिरा अर्थ से और अर्थ गिरा से सादर समलंकृत है। 'खस खस पड़ते समुन्नत महीध्रशृंग' आदि में ध्वननशील शब्दों के प्रयोग के कारण शब्द-योजना बहुत समीचीन है। मालूम होता है जैसे पहाड़ खस खस गिर रहे हैं। "जड़ से पकड़ पकड़ कर धूलि खिला जाते हैं निम्न भूमितल की" पढ़ने पर लगता है, जैसे किसी के सिर के बालों को पकड़ कर उसे ज़मीन पर दे मारा हो। 'बापू' में अर्थ-गौरव की प्रधानता है। थोड़े में कवि बहुत कह गया है। यह बिना भाषा पर प्रभुत्व हुए संभव नहीं। इतने थोड़े शब्दों में अर्थ-गुम्फन शायद कवि की अन्य किसी भी कृति में न मिले। शैली में विरोध-पद्धति प्रायः सर्वत्र देखने को मिलेगी। बापू के प्रादुर्भाव-काल में बहुत सी विषम परिस्थितियाँ दिखला कर उनसे लोहा लेने के लिए इस कृशकाय तपस्वी की असीम शक्तियों का जो दिग्दर्शन कराया गया है, उसमें एक प्रकार की ऐसी अभिव्यक्ति की तरलता आ गई है जिसमें स्नान करने से चित्त प्रफुल्लित हो उठता है।

विरोध पद्धति

‘तुम में पुरातन है नूतन में, नूतन चिरन्तन में।’

‘लघु अवतीर्ण है महत्तम में,

हास और रोदन ध्वनित एक स्वर में।’

‘मित में अपरिमाण’ ‘भय का अवाक् रोर’ ‘अन्त लिये
अथ में’ ‘मृत्यु के निकेत पर जीवन का पुण्यकेतु’
‘निद्रा के विराग में जाग्रत किये थी अनुराग की गहनता ।’
‘नश्वरता जिसमें हुई है अविनश्वरता,
मृत्यु में हिली-मिली अमरता ।’

अंग्रेजी अलंकार Oxymoron और विरोधाभास के
राशि राशि उदाहरण ‘बापू’ में मिलेंगे । और सच तो यह है
कि बापू स्वयं एक विरोधाभास हैं ।

प्रसंग-गर्भत्व

का प्रयोग शैली को चमत्कृत कर देता है किन्तु प्रसिद्ध
प्रसंगों का प्रयोग ही कवि-परिश्रम को सार्थक बनाता है ।
‘आज के अपत्य तुम कल के जनक हो’ ‘Child is the
father of man’ की याद दिलाता है ।

“अचल प्रतिष्ठ है, तुम्हारे पुण्य-सागर में,
ज्ञान-गुणागर में,
शान्ति के समस्त प्रभ्रमित स्रोत
आकर हैं पूर्यमाण, पूर्णकाम, स्रोत प्रोत ।”

इन पंक्तियों को पढ़ कर गीता का यह श्लोक अनायास
स्मरण हो आता है—

आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत्
तद्वत् कामा यं प्रविशन्ति सर्वे स शान्तिमाप्नोति न
कामकामी ।

श्रेष्ठरथि, तुम हे अरुद्ध आत्मरथ के ।

(आत्मानं रथिनंविद्धि शरीरं रथमेव तु)

(कठोपनिषद्)

सुप्त सर्वभूत निशा हो रही है जागृति की पूर्व दिशा
“या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी ।” (गीता)

‘बापू’ में अभिव्यंजना-कौशल सर्वत्र दिखलाई पड़ता है । इस काव्य में अभिव्यंजना के अनुभूतिमय होने से इस का महत्त्व बहुत बढ़ गया है । मनुष्य के हृदय में जैसे भाव होते हैं, उन्हीं के अनुसार उसके मुख की आकृति भी बदल जाती है । इसलिये शैली के सर्वत्र भावानुकूल होने से ही उसमें स्वाभाविकता आ सकती है ।

व्यक्ति के स्थान पर गुण का प्रयोग

‘कातरता करने लगी पुकार—

लौट अरे लौट, वहाँ नाश का महा प्रसार !’

मूर्त प्रस्तुत के लिए अमूर्त अप्रस्तुत

‘भंभावात आते हैं प्रचण्ड रोष गति से
मुक्त असंयति-से ।’

यहाँ भंभावात को ‘मुक्त असंयति-से’ कहा गया है ।

अमूर्त प्रस्तुत के लिए अमूर्त अप्रस्तुत

‘जागी धृति सुस्मृति समान किसी विस्मृति में ।’

विशेषण विपर्यय

‘माता का व्यथित रोष’

चपलातिशयोक्ति

‘भीति का कठोरातङ्क टूट गया स्पर्श से तुम्हारे एक पल में’

श्लेष

‘विरज समीर की लहर-सा
सारी रात निद्रा के विराग में जाग्रत किये थी अनुराग
की गहनता,
(विरोध और श्लेष का चमत्कार)

रूपक

‘मुक्ति-बीज क्रूर भित्ति-भूमि भेद
फूट पड़ा बाहर है ।
लाली लिये ले रहा लहर है’ (वृत्त्यनुप्रास)

सुन्दर-उपमा

“दुर्गम दुरूह मैं से शंका-समाधान सम”

अभिव्यंजना-कौशल के सब प्रकार हमारे यहाँ लाक्षणिक और व्यंजक प्रयोगों में अंतर्भूत हो जाते हैं। अभिव्यक्ति की तरलता की दृष्टि से ‘बापू’ हिन्दी साहित्य का एक उत्कृष्ट काव्य है। अभिव्यक्ति के सम्यक् विवेचन के लिए एक स्वतंत्र लेख ही अपेक्षित है।

आज जब हिन्दुस्तानी के आन्दोलन को लेकर इतने प्रवाद चल पड़े हैं और स्वयं बापू समय समय पर अपने विचार प्रकट करते रहते हैं, नहीं कहा जा सकता ‘बापू’ की भाषा पर स्वयं बापू क्या कहेंगे ?

अन्त में ‘बापू’ के सम्बन्ध में हिन्दी संसार के मर्मज्ञ आलोचक प्रो० रामकृष्ण शुक्ल के सारगर्भित शब्दों को उद्धृत करना यहाँ अनावश्यक न होगा —

“ ‘बापू’ प्रधानतः एक वीरपूजात्मक काव्य है, और इस

दृष्टि से आधुनिक समय के मुक्तक छन्दों में चारण काव्य (Ballad poetry) के ढंग का है, जिसमें कुछ गीति-तत्त्व-सा भी पाया जा सकता है। इसकी प्रत्येक कविता अलग-अलग मुक्तक है परन्तु क्योंकि समस्त ग्रन्थ एककालीन रचना है, इसलिए इसके मुक्तकों में ध्येय की एकसूत्रता या समरसता भी मौजूद है तथापि इसके कारण यह प्रबन्ध कोर्ट में नहीं रखा जा सकता, क्योंकि इसमें कथा या कथांगों का कोई अनुसन्धान नहीं है। एककालीनता और तद्धेतुकी समरसता के प्रतिफल में हमें 'बापू' काव्य में, नायक की प्रत्येक विभिन्न परिस्थिति में, कवि की एकसी मनोवृत्ति बराबर काम करती हुई दिखाई देती है और प्रत्येक स्थिति में नायक का भी जैसे एक ही रूप दिखाई देता है। नायक का यह रूप त्याग-वीर और अहिंसा-युद्धवीर का ऊर्जस्वल रूप है। इस रूप के प्रभाव में अखिल पशुताओं, दानवताओं, भीतियों आदि के दल को विजेता के सामने हम पलायन करते देखते हैं तथा अत्याचारी से पदाक्रान्त प्रजा को शान्ति, आशा और पुनर्जीवन का स्वागत करते देखते हैं। इस व्यापार में भी जहाँ प्रजाओं और शताब्दियों या कारावासों आदि का चित्र है वहाँ मानों उनका प्रस्तुत काव्य नायक ही है जो प्रत्येक वर्णन में पदों के पीछे खड़ा-सा झलकने लगता है।

Ballad poetry का सन्देश स्वाभाविकतया उदात्त रहता है। 'बापू' भी एक उदात्त रचना है। परन्तु नायक की विशेषताएँ इसकी उदात्तता की भी विशेषताएँ हैं—अहिंसा संग्राम और नायक की अकिंचनता, निरस्त्रता के कारण। Ballad poetry का एक अन्य परिचित लक्षण Chivalry और Chivalrous शृंगार भी प्रायः देखने में आया करता है, जिससे 'बापू' सर्वथा मुक्त है।

बापू (नायक) का चरित्र और व्यक्तित्व मानों युग की पुकार का ही संलक्ष्य स्वरूप है। बापू में और युग में ऐकात्म्य है। उसके नाते बापू, भारतीय आदर्श के लिहाज से, युगपति कहे जाएं तो क्या हर्ज है ? अपने अपने समय के युगपतियों— राम, कृष्ण, बुद्ध, ईसा आदि सब का कवि ने 'बापू' में समाधान और समाहार कर लिया है पर फिर भी— या शायद इसीलिए— बापू बापू ही हैं।

स्वाभाविकतया ही वीर-काव्य में हम 'स्थायी उत्साह' या वीर रस की ही परिस्थितियों की आशा करते हैं। 'बापू' स्थायी भाव उत्साह से ओतप्रोत है। परन्तु इसके उत्साह में एक नवलता है, जो Ballad poetry के Romance या अद्भुत-तत्व का स्थान ग्रहण करती है। एक सर्वस्वत्यागी, अर्द्धनग्न अकिंचन, जिसकी मूर्ति से 'शम' की प्रेरणा ही उसका कल्पनीय सत्व जान पड़ती है, जब शान्ति का हाथ उठाता हुआ हमें बढ़ चलने के उत्साह से उदीत करता है तो हम जैसे बड़े कौतुकचकित-से रह जाते हैं। साहित्य-पद्धति में 'शम' और 'उत्साह' विरोधी हैं। बापू में इन दोनों का एकत्र रुचिकर समाधान ही जैसे 'अद्भुत' की विश्रब्ध भूमि बन जाता है। इसके अतिरिक्त 'रति' और 'उत्साह' दो ऐसे भाव हैं जिनकी परिचर्या में लगभग अन्य समस्त भाव संचरण (संचारियों के रूप में) कर सकते हैं। 'रति' और 'उत्साह' का तो आपस में भी जैसे बड़ा संनिकट सम्बन्ध हो। एक दूसरे का हमेशा पोषक होता है। परन्तु बापू में मानों उत्साह ही एकमात्र स्वयंसिद्ध सत्ता है जिसे संचारियों की कोई ज़रूरत नहीं। यदि कोई संचारी दिखाई भी देता है तो युग की बेदना-आशामयी विकलता और उत्कण्ठा के रूप में— नायक की किसी संचारिणी भावना के रूप में नहीं। नायक के व्यक्तित्व

से जो शान्ति का सन्देश-सा मिलता है वह भी उसके 'उत्साह' का संचारी न हो कर मानों उसका एक गौण उद्दीपन ही-सा दृष्टिगोचर होता है ।

'बापू' की कविता में माधुर्य या प्रसाद की अपेक्षा ओज अधिक है, जो वीर काव्य में होना स्वाभाविक है । इस ओज का साहित्यिक रूप उसकी शैली है जिसके उपकरणों में उसकी अत्यन्त तत्सम पदावली तथा संयुक्ताक्षर-प्रबल स्फोटमयी वाणी है । इसके अतिरिक्त, संभव है, ग्रन्थ की मुक्तक छन्द-रचना भी ओज विधान में सहायक हो सकी हो ।

'बापू' की सारी रचना अलंकारमयी है, जिसमें सांग रूपकों को विशेष स्थान दिया गया है ।”

उपसंहार

“इनकी प्रसिद्ध रचना 'बापू' काव्य-पद्धति में अन्तर्बृत्ति-निरूपक मुक्तक प्रधान ठहरती है । इन मुक्तकों को कुछ कुछ सॉनेट के समानान्तर मान सकते हैं; क्योंकि सॉनेट में भी एक ही विषय रहता है और वह कई छन्दों में वर्णित होता है ।

शास्त्र प्रतिपादित किसी छन्द को ग्रहण न करके इसमें सारी रचना केवल लय के आधार पर की गई है । इसके चरणों में जो कुछ चमत्कार है वह लय के उतार-चढ़ाव में ही है । अंत्यानुप्रास में भी किसी विशेष नियम का पालन नहीं किया गया है । कहीं अंत्यानुप्रास पास पास मिलता है और कहीं कहीं तो अंत्यानुप्रास का पूरा पूरा अभाव भी मिलता है । संभवतः अंग्रेज़ी सॉनेट में मिलने वाले अन्त्यानुप्रास के अव्यवस्थित नियम के ढंग पर 'बापू' में भी किसी एक

नियम का पालन नहीं किया गया है। १९वीं शताब्दी के मध्यकाल में अमेरिका में एक नवीन ढंग की अतुकान्त छन्द-विहीन कविता का आरम्भ हुआ। बँगला द्वारा हिन्दी जगत में भी उसके अनुकरण पर इस नवीन कविता-प्रणाली का श्रीगणेश किया गया।”*

‘बापू’ के अनेक गीतों में Ode जैसी शैली मिलेगी; ‘देश अरे मेरे देश’ जैसे देश-प्रेम-मूलक गीत भी मिल जायेंगे किन्तु समस्त रचना को वस्तुतः साहित्यिक वीर-काव्य (Literary Ballad) का नाम देना ही अधिक उपयुक्त होगा। इस काव्य का प्रारम्भ भी गीति-काव्य की तरह न होकर वीर-काव्य की तरह होता है और सच कहा जाय तो ‘बापू’ विधिविधान (Technique) की दृष्टि से हिन्दी साहित्य में अद्वितीय काव्य है। स्वयं बापू का वर्गीकरण जिस प्रकार टैड़ी खीर है, उसी प्रकार यह काव्य भी सहज ही किसी श्रेणी में अन्तर्भुक्त नहीं किया जा सकता। ‘बापू-विचार’ के विद्वान् लेखक का ध्यान भी इस काव्य के वीरपूजात्मक रूप की ओर नहीं जा पाया है। ‘बापू’ वास्तव में मानवता का काव्य है। इस काव्य में कहीं भी गांधी जी का नामोल्लेख नहीं हुआ है। संभवतः लेखक ने जानबूझकर ऐसा किया है। गांधी आज एक व्यक्ति नहीं, वह मानवता का प्रतीक है, एक मूर्तिमन्त आदर्श है। इसलिए इस काव्य को क्या हम मानवता का स्तवन (Ode to Humanity) नहीं कह सकते ?

